स० ९२०

जैन भूगोल

आर्यिका ज्ञानमती

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का ६२ वाँ पुष्प

जैन भूगोल

लेखिका :
आर्यिकारत्न श्रीज्ञानमती माताजी

प्रकाशक
दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान,
हस्तिनापुर (मेरठ) उ० प्र०

प्रथम संस्करण
११०० प्रति

वीर नि० सं० २५१०
मार्च, १९८४

मूल्य
४-००

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा संचालित

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला में दिगम्बर जैन आर्षमार्ग का पोषण करनेवाले हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, मराठी आदि भाषाओं के न्याय, सिद्धान्त, अध्यात्म, भूगोल-खगोल, व्याकरण आदि विषयों पर लघु एवं बृहद् ग्रन्थों का मूल एवं अनुवाद सहित प्रकाशन होता है। समय-समय पर धार्मिक लोकोपयोगी लघु पुस्तिकाएँ भी प्रकाशित होती रहती हैं।

ग्रन्थमाला सम्पादक

मोतीचंद जैन सर्राफ
शास्त्री, न्यायतीर्थ

रवीन्द्रकुमार जैन
बी० ए०, शास्त्री

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

मुद्रक :
वर्द्धमान मुद्रणालय जवाहर नगर, वाराणसी

प्रकाशकीय

जैन भूगोल के नाम से यह पुस्तक पूज्य आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माता जी ने तैयार की है। इस पुस्तक में संक्षेप से जैन वाङ्मय में प्राप्त भूमण्डल का पूरा वर्णन पूज्य माता जी ने लिया है। इसके पूर्व त्रिलोक भास्कर एवं जम्बूद्वीप के नाम से दो ग्रन्थ पूज्य माता जी की लेखनी से प्रकाशित हो चुके हैं। त्रिलोक भास्कर ग्रन्थ भी इसकी अपेक्षा विस्तृत है। अतः संक्षेप में शीघ्र ही सम्पूर्ण विषय को हृदयंगम करने के लिए यह पुस्तक अति उत्तम है।

भूगोल वैसे किसी सम्प्रदाय विशेष की चीज नहीं है, क्योंकि जो पृथ्वी मण्डल की स्थिति है, उसी का वर्णन आज के वैज्ञानिक लोग करते हैं। और उसी का वर्णन हमारे शास्त्रों में आचार्यों ने लिखा है। अन्तर केवल इतना ही है कि वैज्ञानिकों की पहुँच आज जितनी सीमा तक है उतना का ही वर्णन वे कर सकते हैं। लेकिन हमारे आचार्यों ने किसी यन्त्र के द्वारा पृथ्वी मण्डल का ज्ञान नहीं करके, बल्कि जिस दिव्य ज्ञान के द्वारा उन्होंने जिस पृथ्वी मण्डल की जानकारी दी है। वह दिव्य ज्ञान जैन तीर्थंकरों के केवल ज्ञान से प्रस्फुट होता है। और उस दिव्य ज्ञान से आया हुआ कोई भी विवेचन गलत नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ पर वीतरागता है, किसी भी प्रकार से राग-द्वेष के द्वारा लिखा हुआ कथन ही असत्य हो सकता है। इसलिए हमें अपने जैनाचार्यों के द्वारा लिखे ग्रन्थों पर पूर्ण विश्वास के साथ श्रद्धान करना चाहिए। एवं इस पुस्तक को पढ़कर और भी अधिक विस्तृत जानकारी के लिए तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोकसार, जम्बूद्वीपपण्णति एवं तत्त्वार्थसूत्र की संस्कृत-हिन्दी टीकाओं के ग्रन्थ देखने चाहिये।

इस जैन भूगाल का इंग्लिश रूपान्तर भी हो चुका है। शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है।

हस्तिनापुर
२७-१-८४

रवीन्द्र कुमार जैन
सम्पादक

आभार

श्रावक प्रमुख जिनशासन और वीतराग चारित्र सेवक श्रीमान् निर्मलकुमार जी सेठी, सीतापुर कुछ उन इने-गिने व्यक्तियों में से हैं जिन्होंने अपने पूज्य पिता स्व० सेठ हरखचन्द जी सेठी के पदचिह्नों पर चलते हुए धर्म के तथ्य को भलीभांति समझा है। जैन साहित्य और संस्कृति के प्रचार-प्रसार की तरफ आपका समूचा परिवार सतत दत्तचित्त रहता है। सम्पूर्ण देश में फैले हुए अपने व्यावसायिक प्रतिष्ठानों को संचालित करते हुए भी अपने अत्यन्त व्यस्त जीवन के क्षणों का बहुभाग आप जिनवाणी और गुरुसेवा में बिताते हैं। आपकी ही तरह आपके सहोदर श्री हुलाशचन्द जैन, श्री महावीर प्रसाद जैन तथा श्री दिनेशचन्द जैन भी पिता से विरासत में मिली जिन भक्ति की अनुपम भावना को सतत वृद्धिगत करते हुए विशाल व्यावसायिक प्रतिष्ठानों का संचालन कर रहे हैं। वर्तमान में श्री निर्मलकुमार जी सेठी श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के अध्यक्ष, उत्तर प्रदेश रोलर फ्लोर मिल एसोशियेसन के अध्यक्ष, दि० जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, उत्तर प्रदेश के महामंत्री तथा काकन्दी, पावानगर, कहाऊँ तीर्थक्षेत्र कमेटियों के संरक्षक पद से धर्म और समाज की सेवा कर रहे हैं। पूज्य आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी के सान्निध्य में आने के बाद सेठी जी के मन में जिनवाणी प्रसार की भावना इतनी बलवती हो उठी मानों उनके जीवन का यही सब कुछ हो। वर्तमान में दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान से जो भी जिन साहित्य प्रकाशित हुआ है उसके मूल में आपका आर्थिक योगदान तथा प्रबल गुरु भक्ति की भावना निहित रही है। इससे प्रस्तुत प्रकाशन का मूल्य लागत से भी कम रखने में हमें सहायता तो मिली ही है, नई शक्ति के साथ इस पुनीत कार्य को निरन्तर चलाते रहने की प्रेरणा भी प्राप्त हुई। सहयोग के लिए हम श्रीमान् निर्मलकुमार जी सेठी के हृदय से आभारी हैं।

—**सम्पादक**

लेखिका का संक्षिप्त परिचय

अष्टसहस्री आदि महान् क्लिष्ट ग्रन्थों की हिन्दी टीकाकार सुप्रसिद्ध लेखिका, महान् विदुषी, न्यायप्रभाकर, सिद्धान्त वाचस्पति परम पूज्य आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी का जन्म सन् १९३४ वि० सं० की शरद् पूर्णिमा को टिकैतनगर (जिला बाराबंकी) उ० प्र० में हुआ था। आपके पिता श्री छोटेलाल जैन, टिकैतनगर के एक प्रसिद्ध व्यवसायी रहे हैं। आपकी माता मोहनी देवी (वर्तमान में आर्यिका श्री रत्नमतीजी) प्रारम्भ से ही धर्मनिष्ठ रही हैं।

पूज्य माताजी ने वि० सं० २००७ में क्षुल्लिका दीक्षा एवं वि० सं० २०१३ में आर्यिका दीक्षा लेकर सम्पूर्ण भारतवर्ष की पदयात्रा करके ज्ञानगंगा प्रवाहित की है।

पूज्य माताजी का सारा जीवन अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग में रहा है। निरन्तर पठन-पाठन ही आपका प्रमुख व्यसन-सा रहा है। इसी कारण अनेकों शिष्यों को न्याय, व्याकरण, छन्द, अलंकार, सिद्धान्त आदि विषयों में पारंगत बनाकर अपने समान आर्यिका पद पर ही नहीं प्रत्युत् अपने से पूज्य मुनि पद पर भी आसीन कराया है।

साहित्य निर्माण का अनुपम कार्य

प्रकाशित ग्रन्थों के नाम

१. अष्टसहस्री (प्रथम भाग हिन्दी सहित), २. जैन ज्योतिर्लोक, ३. त्रिलोक-भास्कर, ४. सामायिक, ५. न्यायसार, ६. भगवान् महावीर कैसे बने, ७. जम्बू-द्वीप मंडल पूजन विधान, ८. तीर्थङ्कर महावीर और धर्मतीर्थ, ९. श्री वीर जिनस्तुति, १०. ऐतिहासिक तीर्थ हस्तिनापुर, ११. द्रव्यसंग्रह (पद्यानुवाद सहित), १२. आत्मा की खोज, १३. जंबूद्वीप, १४. बालविकास भाग १, १५. बालविकास भाग २, १६. बालविकास भाग ३, १७. बालविकास भाग ४, १८. समाधिशतक, १९. आर्यिका, २०. व्रतविधि एवं पूजा, २१. इन्द्रध्वज-विधान, २२. प्रतिज्ञा, २३. प्रवचननिर्देशिका २४. चौबीस तीर्थङ्कर, २५. आराधना, २६. शिक्षण पद्धति, २७. पंचपरमेष्ठी विधान, २८. तीस चौबीसी विधान, २९. भगवान् बाहुबली, ३०. रत्नकरण्ड पद्यावली, ३१. प्रभावना,

३२. ऋषिमंडल पूजा विधान, ३३. शांतिनाथ पूजा विधान, ३४. नित्य पूजा, ३५. सुदर्शन मेरु पूजा, ३६. एकांकी, ३७. तीर्थङ्करत्रय पूजा, ३८. भगवान् षभदेव, ३९. रोहिणी नाटक, ४०. संस्कार, ४१. जीवनदान, ४२. उपकार, ४३. परीक्षा, ४४, नियमसार पद्यावली, ४५. दिगम्बर मुनि, ४६. जैन भारती, ४७. अभिषेक पूजा, ४८. बाहुबली पूजा, ४९. बाहुबली नाटक, ५०. योगचक्रेश्वर बाहुबली, ५१. कामदेव बाहुबली (अनेक भाषाओं में), ५२. बाहुबली पूजा एवं स्तोत्र, ५३. जंबूद्वीप गाइड ।

अप्रकाशित ग्रन्थ

१. अष्टसहस्री भाग २, २. अष्टसहस्री भाग ३, ३. अष्टसहस्री भाग ४, ४. मूलाचार (संस्कृत टीका सहित) हिन्दी अनुवाद पूर्वार्ध, ५. मूलाचार उत्तरार्ध, ६. नियमसार (सटीक अर्थ सहित), ७. लघीयस्त्रयादि (स्वोपज्ञवृत्ति सहित), ८. लघीयस्त्रयादि (तात्पर्यवृत्ति सहित), ९. भावसंग्रह (अर्थ सहित), १०. भावत्रिभंगी (अर्थ सहित), ११. आस्रव त्रिभंगी (अर्थ सहित), १२. अष्टसहस्री सार, १३. पंचमेरु विधान, १४. जिनगुण सम्पत्ति विधान, १५. दीपावली पूजन, १६. तीर्थङ्कर स्तोत्र, १७. अध्यात्मसार भाग १, २, ३, १८. सत्य की परख, १९. मुक्तिपथ, २०. श्रावकधर्म, २१. ध्यान साधना, २२. भावना (सोलह भावना), २३. दशधर्म, २४. वर्षायोग, २५. धरती के देवता, २६. जीवस्थान २७. गति आगति, २८. बालभारती भाग १, २, ३, २९. नारी आलोक भाग १, २, ३, ३०. नियमसार कलश, ३१. कुंदकुंद का भक्ति राग, ३२. दिगम्बर जैनाचार्य, ३३. हस्तिनापुर परिचय, ३४. गणधरवलय विधान एवं स्तोत्र, ३५. पात्रकेसरी स्तोत्र, ३६. आलाप पद्धति, ३७. आप्तमीमांसा (पद्यावली) ३८. स्तोत्र संग्रह (पंचमेरु स्तुति आदि), ३९. गुरुभक्ति (आचार्यों की स्तुतियाँ) ४०. चर्चासार, ४१. सप्त परमस्थान, ४२. व्रतविधि कुसुमावली भाग १, २, ३, ४३. आटे का मुर्गा, ४४. शील धुरंधर (सेठ सुदर्शन), ४५. सती चंदना (नाटक), ६. आ० वीरसागर चरित (संस्कृत-हिन्दी), ४७. रोहिणी कथा (हिन्द अनुवाद), ४८. तीस चौबीसी स्तोत्र (संस्कृत-हिन्दी), ४९. ग्यारह स्थान, ५०. कातंत्र व्याकरण, ५१. जैनेन्द्र प्रक्रिया व्याकरण—पूर्वार्ध ।

कन्नड़ रचनाएं

१. बाहुबली स्तुति, २. भद्रबाहुस्वामी स्तुति, ३. बारह भावना ।

हस्तिनापुर **मोतीचन्द जैन शास्त्री, न्यायतीर्थ**

प्रस्तावना

अनादिनिधन अकृत्रिम अनन्तानन्त अलोकाकाश के मध्य में ३४३ घनराजु प्रमाण लोक है। उसी में जीव, पुद्गल आदि समस्त द्रव्यों का अवस्थान होने से ऊर्ध्व, अधो और मध्य इन तीनों लोकों की सम्पूर्ण व्यवस्था है।

भ० महावीर की दिव्यध्वनि को साक्षात् श्रवण कर गणधरादिकों के द्वारा श्रुत में निबद्ध द्वादशांग की रचना की गई। परम्परागत उसी ज्ञान के आधार पर उमास्वामी, अकलंकदेव, विद्यानन्दि आदि महान् प्रतिभासम्पन्न आचार्यों ने भौतिकता प्रधान युग को भी खोज की सामग्री दी। इन आचार्यों के द्वारा रचित प्राचीन साहित्य के आधार पर ही आज का विज्ञान खोज की दिशा में आगे बढ़ रहा है। आज से कुछ समय पूर्व लोग वनस्पति में, जल में जीव नहीं मानते थे किन्तु सदियों पूर्व जैनाचार्यों के लिखित सिद्धान्तानुसार वैज्ञानिकों ने पेड़ पौधों में, जल में जीव की मान्यता सिद्ध की अतः वर्तमान युग में जन-साधारण को भी यह विषय मान्य हो गया है। इसी प्रकार से जो लोकविज्ञान की कहानियाँ केवल शास्त्रों की धरोहर थीं आज वह उभर कर सामने आ रही हैं। इसका कारण है विज्ञान की प्रगति और विभिन्न मनीषियों के द्वारा अत्यन्त गूढ़ विषय को भी सरलतापूर्वक जनसामान्य तक पहुँचाना।

वर्तमान में परम पू० आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी ने अपने अथक प्रयासों के द्वारा जैनभूगोल को लोगों की बुद्धि तक ही नहीं पृथ्वी पर साकार करने का जो सुखद संकल्प किया है उससे भारत देश ही नहीं सारा विश्व चिर-ऋणी रहेगा। इनका साहित्यसृजन युग के लिए अमूल्य निधि है।

इस लघुकाय पुस्तक में लेखिका ने जैनसिद्धान्त के उच्चकोटि ग्रन्थों का मन्थन करके नवनीत के रूप में हमें प्रदान किया है। करणानुयोग के तिलोय-पण्णत्ति, त्रिलोकसार, लोकविभाग, श्लोकवार्तिक, राजवार्तिक, जम्बूद्वीपपण्णत्ती आदि ग्रन्थों के आधार से तीनों लोकों का विभिन्न रूप में वर्णन किया गया है। इनमें तीन लोक, मध्यलोक, नंदीश्वर द्वीप, जम्बूद्वीप, भरतक्षेत्र, आर्यखंड आदि लगभग १० विषयों पर अलग-अलग लेख हैं। इन लेखों में कहीं-कहीं एक सदृश ही कुछ विषयों का पुनरुक्त कथन आया है किन्तु उसमें पुनरुक्ति दोष नहीं कह सकते क्योंकि ये सभी लेख स्वयं में निज की पूर्णता को लिए हुए हैं और सबका परस्पर में पूर्वापर सम्बन्ध है। यदि पाठक एक विषय को पूर्णतया अवलोकन करेगा तो उसके लिए वह निश्चित ही उपयोगी सिद्ध होगा। यही

कारण है कि एक लेख में ही सारे विषय को न समेट कर भिन्न-भिन्न परिभाषाओं में उन्हें संजोया गया है। ताकि एक विषय के खोज के लिए हमें अधिक श्रम न उठाना पड़े। भूगोल के ज्ञान के लिए हमें जैनशास्त्रों का गूढ़ अध्ययन भी करना आवश्यक है अन्यथा बाह्य चकाचौंध में मूल तथ्य को नहीं समझा जा सकता है।

तीन लोक ३४३ घनराजू प्रमाण है उसमें मध्यलोक १ राजू प्रमाण है जिसमें असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। उसमें मात्र १ लाख योजन विस्तार का जम्बूद्वीप है और उसके भी १९० वें भाग (५२६$\frac{6}{19}$ योजन) में आर्यखंड है। इस आर्यखंड में ही आज का उपलब्ध सम्पूर्ण विश्व है। यहाँ पर षट्काल का परिवर्तन होता रहता है इसलिए आज आर्यखंड में कोई भी अकृत्रिम रचना नहीं है। वर्तमान में यह हुण्डावसर्पिणी का पंचम काल चल रहा है इस काल में कोई जीव साक्षात् मोक्ष भी नहीं प्राप्त कर सकता है न ही केवली और श्रुतकेवली का सान्निध्य व धर्मोपदेश प्राप्त हो सकता है अतः इस युग में हम सबके लिए जिनवाणी और गुरु ही उपादेय हैं जिनके द्वारा सच्चे ज्ञान की प्राप्ति करके मोक्ष नहीं तो मोक्ष के मार्ग पर चला जा सकते हैं। क्योंकि ऐसा कहा है—

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते।
आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः॥

अतः इन्हीं प्रमुख आधारों से रचित यह **जैनभूगोल** पुस्तक अवश्य ही विज्ञान को नई दिशा प्रदान कर खोज के लिए अग्रसर करेगी ऐसी आशा है।

हस्तिनापुर (मेरठ) **कु० माधुरी शास्त्री**
११-१०-८३

विषय सूची

१. जम्बूद्वीप	१
२. भरतक्षेत्र	८
३. आर्यखण्ड	१५
४. लवण समुद्र	२४
५. मध्यलोक	३३
६. नन्दीश्वर द्वीप	४२
७. तीन लोक	४८
८. जम्बूद्वीप के पर्वतों के आकार	५२

शुद्धिपत्र

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति
१. सचक्र	स्वचक्र	३	२१
२. बीच के	बीच का	४	३०
३. सुषमा-सुषमा	सुषमा-सुषमा, सुषमा	५	२२
४. कालद्रुगा	कालदुगा	५	३१
५. उत्तर	उत्तम	६	१
६. (पू० प० में	(पू० प० में)	७	७
७. ऐसा	चौड़ा	९	१०
८. मेच्छ	म्लेच्छ	११	३०
९ मुत्सर्पिणीभ्याम्	मुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्	१६	११
१०. वर्ष एक	वर्ष कम एक	१९	१४
११. चौण	चोल	२३	४
१२. १०८	१००८	२४	३०
१३. ३३३३३१/३	३३३३३,१/३	२५	२९
१४. शिविर	शिखर	२६	२९
१५. सात योजन	सात सौ योजन	३०	२९
१६. इक्कीस योजन	इक्कीस सौ योजन	३०	३०
१७. स्वर्ण	स्वर्ग	३१	१५
१८. महाशुकेन्द्र	महाशुक्रेन्द्र	४४	५
१९. शतार इन्द्र	शतारइन्द्र	४४	७
२०. सोहम्मी	सोहम्मो	४४	२०
२१. एक एक	एक	४८	२७
२२. तीन का	तीन लोक का	५१	१६
२३. १२½	१२½	५५	४
२४. १८¾	१८¾	५५	१४
२५. को	की	५५	२७
२६. का १ बाल का	के बाल का	५७	३

●

जैन भूगोल

• •

जम्बूद्वीप

एक लाख योजन विस्तृत गोलाकार (थाली सदृश) इस जम्बूद्वीप में हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी इन छह कुलाचलों से विभाजित सात क्षेत्र हैं—भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत। भरत क्षेत्र का दक्षिण उत्तर विस्तार ५२६, ६/१९ योजन है। आगे पर्वत और क्षेत्र के विस्तार विदेह क्षेत्र तक दूने-दूने हैं पुनः आधे-आधे हैं।

इनमें से भरत क्षेत्र और ऐरावत क्षेत्र के आर्यखण्ड में षट्काल परिवर्तन से भोगभूमि और कर्मभूमि की व्यवस्था चलती रहती है जो अशाश्वत कहलाती है। हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्र में जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था है। हरि और रम्यक क्षेत्र में मध्यम भोगभूमि की व्यवस्था है। विदेह क्षेत्र में दक्षिण-उत्तर में देवकुरु-उत्तरकुरु नाम से क्षेत्र हैं जहाँ पर उत्तम भोगभूमि की व्यवस्था है। ये छहों भोगभूमियाँ शाश्वत हैं। विदेह क्षेत्र में पूर्व-पश्चिम में १६ वक्षार पर्वत और १२ विभंगा नदियों के निमित्त से ३२ क्षेत्र हो जाते हैं। जिनके नाम कच्छा, सुकच्छा आदि हैं। इन बत्तीसों विदेह क्षेत्रों में कर्मभूमि की व्यवस्था सदा काल एक जैसी रहती है अतः इन्हें शाश्वत कर्मभूमि कहते हैं।

विदेह क्षेत्र का विस्तार (दक्षिण-उत्तर) ३३६८४, ४/१९ योजन है और इसकी लम्बाई (पूर्व-पश्चिम) १००००० योजन है। इस विदेह के ठीक मध्य में सुदर्शन मेरु पर्वत है जो एक लाख चालीस योजन ऊँचा है। पृथ्वी पर इसकी चौड़ाई १० हजार है और घटते-घटते ऊपर जाकर ४ योजन मात्र की रह गई है। इस सुमेरु की चारों विदिशाओं में एक-एक गजदंत पर्वत हैं जो कि एक तरफ से सुमेरु का स्पर्श कर रहे हैं और दूसरी तरफ से निषध-नील पर्वत को छूते हुए हैं। इन पर्वतों के निमित्तों से भी विदेह की चारों दिशायें पृथक्-पृथक् विभक्त हो गई हैं। सुमेरु से उत्तर की ओर उत्तरकुरु में ईशान कोण में जम्बूवृक्ष है और सुमेरु से दक्षिण की ओर देवकुरु है जिसमें आग्नेय कोण में शाल्मली वृक्ष है। इन दोनों कुरुओं में दश प्रकार के कल्पवृक्ष होने से वहाँ पर सदा ही उत्तम भोगभूमि की व्यवस्था रहती है।

सुमेरु के पूर्व पश्चिम में विदेह क्षेत्र में सीता-सीतोदा नदियाँ बहती हैं। इससे पूर्व-पश्चिम विदेह में भी दक्षिण-उत्तर भाग हो जाते हैं। सुमेरु के पूर्व में और सीता नदी के उत्तर में सर्वप्रथम भद्रसालवन की वेदिका है, पुनः क्षेत्र है, पुनः वक्षार पर्वत है जो कि ५०० योजन विस्तृत, १६५९२, २/१९ योजन लम्बा तथा नील पर्वत के पास ४०० योजन एवं सीता नदी के पास ५०० योजन ऊँचा है। यह पर्वत सुवर्णमय है। इस पर चार कूट हैं। जिनमें से नदी के पास के कूट पर जिनमन्दिर एवं शेष तीन कूटों पर देव-देवियों के आवास हैं। इस पर्वत

के बाद क्षेत्र, पुनः विभंगानदी, पुनः क्षेत्र, पुनः वक्षार पर्वत ऐसे क्रम से चार वक्षार पर्वत और तीन विभंगा नदियों के अंतराल से तथा एक तरफ भद्रसाल की वेदी और दूसरी तरफ देवारण्यवन की वेदी के निमित्त से इस एक तरफ के विदेह में आठ क्षेत्र हो गये हैं। ऐसे ही सीता नदी के दक्षिण तरफ ८ क्षेत्र पश्चिम विदेह में सीतोदा नदी के दक्षिण-उत्तर में ८-८ क्षेत्र ऐसे बत्तीस क्षेत्र हैं।

बत्तीस विदेह क्षेत्रों के नाम

कच्छा, सुकच्छा, महाकच्छा, कच्छकावती, आवर्ता, लांगलावर्ता, पुष्कला, पुष्कलावती, वत्सा, सुवत्सा, महावत्सा, वत्सकावती, रम्या, सुरम्या, रमणीया, रम्यकावती, पद्मा, सुपद्मा, महापद्मा, पद्मकावती, शंखा, नलिनी, कुमुद, सरित, वप्रा, सुवप्रा, महावप्रा, वप्रकावती, गंधा, सुगंधा, गंधिला और गंध-मालिनी।

कच्छा विदेह का वर्णन

यह कच्छा विदेह क्षेत्र पूर्व-पश्चिम में २२१२, ७/८ योजन विस्तृत है और दक्षिण-उत्तर में १६५९२, २/१९ योजन लम्बा है। इस क्षेत्र के बीचों बीच में ५० योजन चौड़ा २२१२,७/८ योजन लम्बा और २५ योजन ऊँचा विजयार्ध पर्वत है। इस विजयार्ध में भी भरत क्षेत्र के विजयार्ध के समान दोनों पार्श्व भागों में दो-दो विद्याधर श्रेणियाँ हैं। इन दोनों तरफ की श्रेणियों पर विद्याधर मनुष्यों की ५५-५५ नगरियाँ हैं। इस विजयार्ध पर्वत पर ९ कूट हैं, इनमें से एक कूट पर जिनमन्दिर और शेष ८ कूटों पर देवों के भवन हैं। नील पर्वत की तलहटी में गंगा-सिन्धु नदियों के निकलने के लिए दो कुण्ड बने हैं। इन कुण्डों से ये दोनों नदियाँ निकलकर सीधी बहती हुई विजयार्ध पर्वत की तिमिस्र गुफा और खण्डप्रपात गुफा में प्रवेश कर बाहर निकलकर क्षेत्र में बहती हुई आगे आकर सीता नदी में प्रवेश कर जाती हैं। इस कच्छा देश में विजयार्ध और गंगा-सिंधु के निमित्त से छह खण्ड हो जाते हैं। इनमें से नदी के पास के मध्य में आर्य खण्ड है। और शेष पाँचों म्लेच्छ खण्ड हैं। यह आर्यखण्ड के बीचों बीच में क्षेमा नाम की नगरी है, जो कि मुख्य राजधानी है। यह एक कच्छा विदेह देश का वर्णन है। इसी प्रकार से महाकच्छा आदि इकतीस विदेहदेशों की व्यवस्था है ऐसा समझना।

विदेह क्षेत्र की व्यवस्था

प्रत्येक विदेह में ९६ करोड़ ग्राम, २६ हजार नगर, १६ हजार खेट, २४ हजार खर्वड, ४ हजार मडंब, ४८ हजार पत्तन, ९९ हजार द्रोण, १४ हजार संवाह और २८ हजार दुर्गाटवी हैं।

जो चारों ओर काँटों की बाड़ से वेष्टित हो, उसे ग्राम कहते हैं। चार दरवाजों युक्त कोट से वेष्टित को नगर कहते हैं। नदी और पर्वत दोनों से वेष्टित को खेट कहते हैं। पर्वत से वेष्टित खर्वड हैं। ५०० ग्रामों से संयुक्त मंडंब हैं। जहाँ रत्नादि वस्तुओं की निष्पत्ति होती है, वे पत्तन हैं। नदी से वेष्टित को द्रोण, समुद्र की वेला से वेष्टित को संवाह और पर्वत के ऊपर बने हुए को दुर्गाटवी कहते हैं।

प्रत्येक विदेह देश में प्रधान राजधानी और महानदी के बीच स्थित आर्यखण्ड में एक-एक उपसमुद्र है और उस उपसमुद्र में एक-एक टापू है, जिस पर ५६ अन्तरद्वीप, २६ हजार रत्नाकर और रत्नों के क्रय-विक्रय के स्थानभूत ऐसे ७००. कुक्षिवास होते हैं।

सीता-सीतोदा नदियों के समीप जल में पूर्वादि दिशाओं में मागध, वरतनु और प्रभास नामक व्यंतर देवों के तीन द्वीप हैं।

विदेह क्षेत्र में वर्षा ऋतु

विदेह क्षेत्र में वर्षाकाल में सात प्रकार के कालमेघ सात-सात दिन तक अर्थात् ४९ दिनों तक और द्रोण नाम वाले बारह प्रकार के श्वेत मेघ सात-सात दिन तक (१२ × ७ = ८४) दिनों तक बरसते हैं। इस प्रकार वहाँ वर्षा ऋतु में कुल ४९ × ८४ = १३३ दिन मर्यादा पूर्वक वर्षा होती है।

विदेह देश में क्या-क्या नहीं हैं ?

विदेह क्षेत्र में सर्वत्र कभी दुर्भिक्ष नहीं पड़ता है। सात प्रकार की "ईति" नहीं हैं। १. अति वृष्टि, २. अनावृष्टि ३. मूषक प्रकोप ४. शलभ प्रकोप (टिड्डी) ५. शुक प्रकोप ६. सचक्र प्रकोप और ७. परचक्र प्रकोप ये सात ईतियाँ वहाँ नहीं हैं। तथा गाय या मनुष्य आदि जिसमें अधिक मरने लगें उसे मारि रोग कहते हैं वह भी वहाँ नहीं है। वहाँ कुदेव, कुलिंगी साधु और कुमत भी नहीं हैं। अर्थात् वहाँ पर दुर्भिक्ष, ईति, मारिरोग, कुदेव, कुलिंगी और कुमतों का अभाव है।[1]

यहाँ विदेह में हमेशा चतुर्थकाल सदृश ही वर्तना रहती है। अर्थात् सतत ही उत्कृष्ट ५०० धनुष की अवगाहना वाले मनुष्य होते हैं और वहाँ मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु एक कोटि पूर्व वर्ष की है। वहाँ पर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये तीन वर्ण ही होते हैं। जो कि असि, मषि, कृषि आदि के द्वारा आजीविका करते हैं। वहाँ पर हमेशा गृहस्थ धर्म और मुनि धर्म चलता रहता है। वहाँ पर हमेशा

---

१. त्रिलोकसार गाथा ६७४ से ६८० तक।

तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण और प्रतिनारायण होते रहते हैं। इस जम्बूद्वीप के ३२ विदेहों में यदि अधिक तीर्थंकर आदि होते हैं तो ३२ होते हैं और कम से कम ४ अवश्य होते हैं। वहाँ चार तीर्थंकर आज भी विद्यमान हैं जिनके नाम हैं—सीमंधर, युगमंधर, बाहु और सुबाहु। ये विहरमाण तीर्थंकर भी कहलाते हैं। ऐसे ही पाँचों मेरु संबंधी ३२×५ = १६० विदेह होते हैं। उनमें तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि भी अधिक रूप से १६० और कम से कम २० माने गये हैं।[1]

चौदह नदियाँ

हिमवान् आदि छह पर्वतों पर क्रम से पद्म, महापद्म, तिगिञ्छ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ऐसे छह सरोवर हैं। इनमें पद्म तथा पुण्डरीक सरोवर से तीन-तीन एवं शेष चार सरोवरों से दो-दो नदियाँ निकलती हैं। जिनके नाम हैं—गंगा, सिंधु, रोहित-रोहितास्या, हरित-हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकांता, सुवर्ण-कूला-रूप्यकूला और रक्ता-रक्तोदा। ये चौदह नदियाँ दो-दो मिलकर भरत आदि सात क्षेत्रों में बहती हैं।

इस क्षेत्र का विस्तार ५२६,६/१९ योजन है। इसके बीच में पूर्व-पश्चिम लम्बा ५० योजन चौड़ा और २५ योजन ऊँचा एक विजयार्ध पर्वत है। इसमें दक्षिण उत्तर बाजू में विद्याधरों की नगरियाँ हैं। इस पर्वत में दो गुफायें हैं। जिनके नाम हैं—तमिस्र गुफा, खण्डप्रपात गुफा। हिमवान पर्वत के पद्म सरोवर के पूर्वतोरण द्वार से गंगा नदी एवं पश्चिम तोरण द्वार से सिंधु नदी निकलकर ५००-५०० योजन तक पूर्व-पश्चिम दिशा में पर्वत पर ही बहकर पुनः दक्षिण की ओर मुड़कर पर्वत के किनारे आ जाती है। वहाँ पर गोमुख आकार वाली नालिका से नीचे गिरती है। हिमवान पर्वत की तलहटी में नदी गिरने के स्थान पर गंगा सिंधु कुण्ड बने हुए हैं। जिनमें बने कूटों पर गंगा सिंधु देवी के भवन हैं। भवन की छत पर फूले हुए कमलासन पर अकृत्रिम जिनप्रतिमा विराजमान हैं उन प्रतिमा के मस्तक पर जटाजूट का आकार बना हुआ है। ऊपर से गिरती हुई गंगा सिंधु नदियाँ ठीक भगवान् की प्रतिमा के मस्तक पर अभिषेक करते हुए के समान पड़ती हैं। पुनः कुण्ड से बाहर निकल कर क्षेत्र में कुटिलाकार से बहती हुई पूर्व-पश्चिम की तरफ लवण समुद्र में प्रवेश कर जाती हैं।

इसलिए इस भरत क्षेत्र के विजयार्ध पर्वत और गंगा-सिंधु नदी के निमित्त से छह खण्ड हो जाते हैं। इनमें से जो दक्षिण की तरफ में बीच के खण्ड हैं वह आर्यखण्ड है, शेष पाँच म्लेच्छ खण्ड हैं। उत्तर की तरफ के तीन म्लेच्छ खण्डों

---

१. त्रिलोकसार गाथा ६८१।

में से बीच वाले म्लेच्छ खण्ड में एक वृषभाचल पर्वत है। चक्रवर्ती जब इन छहों खण्डों को जीत लेता है तब अपनी विजय प्रशस्ति इसी पर्वत पर लिखता है।

भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड के मध्य में अयोध्या नगरी है। इस अयोध्या के दक्षिण में ११९ योजन की दूरी पर लवण समुद्र की वेदी है और उत्तर की तरफ इतनी ही दूर पर विजयार्ध पर्वत की वेदिका है। अयोध्या से पूर्व में १००० योजन की दूरी पर गंगा नदी की तट वेदी है और पश्चिम में १००० योजन दूरी पर सिन्धु नदी की तट वेदी है अर्थात् आर्यखण्ड की दक्षिण दिशा में लवण समुद्र, उत्तर दिशा में विजयार्ध, पूर्व दिशा में गंगा नदी एवं पश्चिम दिशा में सिंधु नदी हैं ये चारों आर्यखण्ड की सीमारूप हैं।

अयोध्या से दक्षिण में ४७६००० मील (चार लाख छियत्तर हजार मील) जाने से लवण समुद्र है और उत्तर में ४,७६००० मील जाने से विजयार्ध पर्वत है। उसी प्रकार अयोध्या से पूर्व में ४०००००० (चालीस लाख) मील दूर पर गंगा नदी तथा पश्चिम में इतनी ही दूर पर सिंधु नदी है। आज का उपलब्ध सारा विश्व इस आर्यखण्ड में है। हम और आप सभी इस आर्यखण्ड में ही (भारतवर्ष में) रहते हैं। इस भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड से विदेह क्षेत्र की दूरी २० करोड़ मील से अधिक ही है। भरत क्षेत्र और ऐरावत क्षेत्र के आर्यखण्ड में सदा ही अरहट घड़ी यंत्र के समान छह कालों का परिवर्तन होता रहता है।

षटकाल परिवर्तन

"भरत और ऐरावत क्षेत्र में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी इन दो कालों के द्वारा षट्काल परिवर्तन होता रहता है। इनमें अवसर्पिणी काल में जीवों के आयु शरीर आदि की हानि एवं उत्सर्पिणी में वृद्धि होती रहती है।"[1]

अवसर्पिणी के सुषमा-सुषमा, सुषमादुःषमा, दुःषमासुषमा, दुःषमा और अतिदुःषमा ऐसे छह भेद हैं। ऐसे ही उत्सर्पिणी के इनसे उल्टे अर्थात् दुःषमा-दुःषमा, दुषमा, दुःषमसुषमा, सुषमादुःषमा, सुषमा और सुषमासुषमा ये छह भेद हैं।

अवसर्पिणी के सुषमासुषमा की स्थिति ४ कोड़ाकोड़ी सागर, सुषमा की ३ कोड़ाकोड़ी सागर, सुषमादुःषमा की २ कोड़ाकोड़ी सागर, दुषमासुषमा की ४२ हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर, दुषमा की २१ हजार वर्ष की एवं अति-दुःषमा की २१ हजार वर्ष की है। ऐसे ही उत्सर्पिणी में २१ हजार वर्ष से समझना।

---

१. भरहेसुरेवदेसु य ओसप्पुस्सप्पिणित्ति कालदुगा।
उस्सेधाउबलाणं हाणीवड्ढी य होंतित्ति ।।७७९।। –त्रिलोकसार।

इन छह कालों में से प्रथम, द्वितीय और तृतीय काल में क्रम से उत्तर, मध्यम और जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था रहती है तथा चौथे, पाँचवें और छठे काल में कर्मभूमि की व्यवस्था हो जाती है। उत्तम भोगभूमि में मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई तीन कोश और आयु तीन पल्य प्रमाण होती है। मध्यम भोगभूमि में शरीर की ऊँचाई दो कोश, आयु दो पल्य की होती है और जघन्य भोगभूमि में शरीर की ऊँचाई एक कोश और आयु एक पल्य की है। यहाँ पर दश प्रकार के कल्पवृक्षों से भोगोपभोग सामग्री प्राप्त होती है। चतुर्थकाल में उत्कृष्ट अवगाहना सवा पाँच सौ धनुष और उत्कृष्ट आयु एक पूर्व कोटि वर्ष है। पंचम काल में शरीर की ऊँचाई ७ हाथ और आयु १२० वर्ष है। छठे काल में शरीर २ हाथ का और आयु २० वर्ष है।

इस वर्तमान की अवसर्पिणी में

"तृतीय काल में पल्य का आठवाँ भाग शेष रहने पर प्रतिश्रुति, सन्मति, क्षेमंकर, क्षेमन्धर, सीमंकर, सीमंधर, विमलवाहन, चक्षुष्मान्, यशस्वी, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजित्, नाभिराय और उनके पुत्र ऋषभदेव ये कुलकर उत्पन्न हुए हैं।"[1]

अर्थात् अन्यत्र ग्रन्थों में नाभिराय को १४वें अन्तिम कुलकर माने हैं। यहाँ पर नाभिराय के पुत्र प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को भी कुलकर संज्ञा दे दी है।

इस युग में कर्मभूमि के प्रारम्भ में तीर्थंकर ऋषभदेव के सामने जब प्रजा आजीविका की समस्या लेकर आई, तभी प्रभु की आज्ञा से इन्द्र ने ग्राम, नगर आदि की रचना कर दी पुनः प्रभु ने अपने अवधिज्ञान से विदेह क्षेत्र की सारी व्यवस्था को ज्ञातकर प्रजा में वर्ण व्यवस्था बनाकर उन्हें आजीविका के साधन बतलाये। यही बात श्री नेमिचन्द्राचार्य ने भी कही है—

नगर, ग्राम, पत्तन आदि की रचना, लौकिक शास्त्र, असि, मषि, कृषि आदि लोक व्यवहार और दया प्रधान धर्म का स्थापन आदि ब्रह्मा श्री ऋषभनाथ तीर्थंकर ने किया है।"[2]

•

---

१. त्रिलोकसार गाथा ७९२-७९३-७९४।

२. पुरगामपट्टणादी लोहियसत्थं च लोयववहारो।
धम्मो वि दयामूलो विणिम्मियो आदिबह्मेण ॥८०२॥ —त्रिलोकसार।

क्षेत्र और पर्वत	विस्तार दक्षिण-उत्तर	लम्बाई पूर्व-पश्चिम	ऊँचाई पर्वत की	भोगभूमि या कर्मभूमि क्षेत्रों में	वर्ण पर्वत के	कूट संख्या पर्वतों पर	कूटों की ऊँचाई	चौड़ाई मूल में	चौड़ाई अंत में
क्षेत्र भरत	५२६$\frac{6}{19}$ यो०	१४४७१$\frac{5}{19}$		कर्मभूमि भोगभूमि अशाश्वत					
पर्वत—हिमवान	१०५२$\frac{12}{19}$	२४९३१$\frac{18}{19}$	१००		सुवर्णमय	११	२५यो.	२५	१२,१/२
क्षेत्र—हैमवत	२१०५$\frac{5}{19}$	३७६७४$\frac{16}{19}$		भोगभूमि जघन्य					
पर्वत—महाहिमवान	४२१०$\frac{10}{19}$	५३९३१$\frac{6}{19}$	२००		रजतमय	८	५०	५०	२५
क्षेत्र—हरि	८४२१$\frac{1}{19}$	७३९०१$\frac{17}{19}$		भोगभूमिमध्यम					
पर्वत—निषध	१६८४२$\frac{2}{19}$	९४१५६$\frac{2}{19}$	४००		तप्तसुवर्ण	९	१००	१००	५०
क्षेत्र—विदेह	३३६८४$\frac{4}{19}$	१०००००		कर्मभूमि (पू. प. में शाश्वत भोगभूमि (द. उ. में) उत्कृष्ट					
पर्वत—नील	१६८४२$\frac{2}{19}$	९४१५६$\frac{2}{19}$	४००		वैडूर्यमणि	९	१००	१००	५०
क्षेत्र—रम्यक	८४२१$\frac{1}{19}$	७२९०१$\frac{17}{19}$		भोगभूमिमध्यम					
पर्वत—रुक्मी	४२१०$\frac{10}{19}$	५३९३१$\frac{6}{19}$	२००		रजतमय	८	५०	५०	२५
क्षेत्र—हैरण्यत	२१०५$\frac{12}{19}$	३७६७४$\frac{16}{19}$		भोगभूमिजघन्य					
पर्वत—शिखरी	१०५२$\frac{12}{19}$	२४९३१$\frac{18}{19}$	१००		सुवर्णमय	११	२५	२५	१२,१/२
क्षेत्र—ऐरावत	५२६$\frac{6}{19}$	११४७१$\frac{5}{19}$		कर्मभूमि और भोग-भूमि । अशाश्वत					

भरत क्षेत्र

प्रत्येक जीव में अनन्त गुण माने गये हैं। उन सभी गुणों में यदि ज्ञान गुण को पृथक् कर दिया जाय तो सभी गुण निर्जीव हो जावेंगे, क्योंकि 'ज्ञान' यह जीव का लक्षण है-स्वभाव है, जैसे कि अग्नि का स्वभाव उष्णता। यह ज्ञान गुण सभी संसारी जीवों में कुछ न कुछ तरतमता को लिए हुए है फिर भी कहीं न कहीं इसकी पूर्णता अवश्य है। इसी बात को श्री समंतभद्र स्वामी ने कहा है—

सूक्ष्मांतरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥[1]

सूक्ष्म, अंतरित और दूरवर्ती पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योंकि वे अनुमेय हैं, जैसे कि अग्नि आदि पदार्थ। इस अनुमान वाक्य से 'सर्वज्ञ देव' का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

यहाँ पर सूक्ष्म से परमाणु आदि, अंतरित से राम रावण आदि और दूरवर्ती से सुमेरु पर्वत आदि लिये जाते हैं। इन सूक्ष्मादि पदार्थों को इन्द्रियज्ञान से जानना शक्य नहीं है क्योंकि हम और आपका इन्द्रिय ज्ञान सीमित पदार्थों को तथा वर्तमान को ही विषय करता है। भूत-भविष्यत् को तथा सम्पूर्ण पदार्थों को पूर्णरूपेण जानना अतीन्द्रिय ज्ञान के द्वारा ही सम्भव है। वे अतीन्द्रिय ज्ञानदर्शी, सर्वज्ञ ही हैं। उनके द्वारा कथित वाणी जिनागम कहलाती है।

आज के वैज्ञानिक युग में कितने ही कुशल अनुसंधानकर्ता क्यों न हों, फिर भी वे आत्मा, परमात्मा, परलोक, स्वर्ग, नरक और तो क्या स्वयं व अन्य के जन्म मरण को भी नहीं देख पाते हैं। हर किसी को, प्रत्यक्ष तथा अनुमान के सिवाय बहुत कुछ ऐसा विषय है कि जिसको जानने के लिये आगम की शरण लेनी ही पड़ती है। हमारे पितामह के पितामह तथा उनके भी पितामह आदि की हजारों पीढ़ियों तक के पिता पितामह का अस्तित्व तो स्वीकार करना ही पड़ेगा किन्तु उनको प्रत्यक्ष से नहीं देखा जा सकता है। उस पर विश्वास करने के लिये 'परम्परा' की ही शरण लेनी पड़ती है। उसी प्रकार से परम्परागत आगम से तीन लोक, मध्य लोक, असंख्यात द्वीप-समुद्र और जम्बूद्वीप तथा नंदीश्वर द्वीप आदि को स्वीकार करना ही चाहिये। जम्बूद्वीप के अन्तर्गत सुमेरु, विदेह, हिमवान्, विजयार्ध, भरत क्षेत्र, आर्यखण्ड आदि को जाने बिना और उन पर विश्वास किये बिना जीवों के आधारभूत स्थानों का निर्णय नहीं किया जा सकेगा पुनः आस्तिक्य भावना का ही अभाव हो जावेगा।

अतः भगवान् महावीर की वाणी से जिनका सम्बन्ध है ऐसे षट्खण्डागम,

---

१. देवागमस्तोत्र।

कषायपाहुड़, तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोकसार, तत्त्वार्थसूत्र, श्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थों को मानकर उन पर श्रद्धान करना अपना परम कर्त्तव्य हो जाता है।

यहाँ पर इन्हीं ग्रंथों के आधार से जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भरत क्षेत्र का यत्किंचित् वर्णन किया जा रहा है।

मध्यलोक के सर्वप्रथम द्वीप का नाम जम्बूद्वीप है। यह एक लाख योजन[1] विस्तृत और थाली के समान गोल है। इसके एक सौ नब्बे वें भाग अर्थात् ५२६, ६/१९ योजन प्रमाण भरत क्षेत्र है। इस भरत क्षेत्र के छह खण्ड हैं।

गंगानदी—भरत क्षेत्र से आगे हिमवान् पर्वत है जो कि इस क्षेत्र से दूने विस्तार वाला अर्थात् १०५२, १२/१९ योजन है। इसके मध्य में १००० योजन लम्बा और ५०० योजन ऐसा एक पद्म सरोवर है। इसके मध्य के कमल पर श्रीदेवी का भवन है। इस सरोवर के पूर्व-पश्चिम तोरण द्वार से गंगा-सिंधु नदी निकलती हैं जो हिमवान् पर्वत की तलहटी में बने हुए गंगा-सिंधु कूट पर गिरती हैं।

गंगाकूट—हिमवान् पर्वत के नीचे भूमि पर ६० योजन विस्तृत समवृत्त गंगाकुण्ड है। इसके बीचोंबीच में एक द्वीप है। यह द्वीप जल के मध्य में १० योजन ऊँचा, ८ योजन विस्तृत तथा जल के ऊपर २ कोश ऊँचा है। इसके बीच में एक वज्रमय पर्वत है। इसका मूल में विस्तार ४ योजन, मध्य में २ योजन और ऊपर एक योजन है। यह पर्वत १० योजन ऊँचा है, तोरण एवं वेदिका से सुशोभित है। इस पर्वत के ऊपर बहुमध्य भाग में उत्तम रत्न एवं सुवर्ण से निर्मित्त, 'गंगाकूट' इस नाम से प्रसिद्ध एक दिव्य प्रासाद है। यह प्रासाद चार तोरणों से युक्त, उत्तम वेदी से वेष्टित. अतिविचित्र बहुत प्रकार के हजारों यंत्रों से सहित अनुपम है। यह प्रासाद (भवन) मूल में ३०००, मध्य में २००० और ऊपर में १००० धनुष प्रमाण है तथा २००० धनुष ऊँचा है अतः कूट के सदृश दिखता है। यह प्रासाद उत्तम वेदी से वेष्टित, चार गोपुर द्वार एवं मंदिर से सुशोभित और रमणीय उद्यान से युक्त है। इस भवन में स्वयं गंगा देवी रहती है।

यह गंगानदी पद्मद्रह से ५०० योजन आगे जाकर अर्थात् पूर्व दिशा में चलकर पश्चात् दक्षिण की ओर मुड़ जाती है। यह दक्षिण में ५२३,२९/१२५ योजन आकर पर्वत के तट पर स्थित जिह्विका को प्राप्त होती है। हिमवान् पर्वत के अन्त में वृषभाकार मणिमय उत्तम कूट के मुख में प्रवेश कर चन्द्रमा के समान धवल और दश योजन विस्तार वाली गंगा की धारा नीचे गिरती है। वह कूटमुख सींग, मुख, कान, जिह्वा, लोचन और भ्रकुटी आदिक से गौ के सदृश

---

१. चालीस करोड़ मील (१००००० × ४००० = ४०००००००००)

है, इसीलिये उस रत्नमय जिह्विका को 'वृषभ' कहते हैं।"[1] वहाँ पर गंगा नदी पच्चीस योजन हिमवान् पर्वत को छोड़कर १० योजन विस्तार वाले गंगाकुण्ड में गिरती है।

इस गंगादेवी के भवन के ऊपर कूट पर किरण समूह से संपूर्ण दिशाओं को प्रकाशित करने वाली, और शाश्वत ऋद्धि को प्राप्त, ऐसी जिनेन्द्र प्रतिमाएँ स्थित हैं। वे आदि जिनेन्द्र की प्रतिमाएँ जटामुकुट रूप शेखर से सहित हैं। इन प्रतिमाओं के ऊपर वह गंगा नदी मानों मन में अभिषेक भावना को रखकर ही गिरती है। वे आदि जिनेन्द्र की प्रतिमायें फूले हुए कमलासन पर विराजमान और कमल के उदर अर्थात् मध्यभाग सदृश वर्ण वाले उत्तम शरीर से युक्त हैं। जो भव्य जीव इन्हें स्मरण करते हैं उन्हें ये निर्वाण प्रदान करती हैं।[2]

गंगा नदी इस कुण्ड के दक्षिण तोरण द्वार से निकलकर भूमि प्रदेश में मुड़ती हुई विजयार्ध पर्वत की गुफा में प्रवेश कर जाती है।

---

१. सिंगमुहकण्णजिह्वालोयण भू आदि एहि गोसरिसो।
वसहो त्ति तेण भण्णइ रयणामरजीहिया तत्थ॥
—(२१५॥ ति० प० अ० ४, पृ० १६८)

सिंगमुहकण्णजीहाणयणाभूयादि एहि गोसरिसा।
वसह त्ति तेण णामा णाणामणिरयणपरिणामा॥१५१॥
—जम्बूद्वीपपण्णत्ति, पृ० ४७

केसरिमुहसुदिजिब्भादिट्ठी भूसीसपहुदिणोसरिसा।
तेणिह पणालिया सा वसहायारेत्ति णिद्दिट्ठा॥५८५॥—त्रिलोकसार

२. भवणोवरि कूडम्मि य जिणिंद पडिमाओ सासदरिधीओ।
चेटं ठति किरण मंडल उज्जोइदसयल आसाओ॥ २२९॥
आदिजिणप्पडिमाओ ताओ जडमउडसेहरिल्लाओ।
पडिमोवरिम्मि गंगा अभिसित्तुमणा व सा पडदि॥ २३०॥
पुप्फिदपंकजपीढा कमलोदर सरिसवण्णवरदेहा।
पढमजिणप्पडिमाओ भरंति जे ताण देंति णिव्वाणं॥ २३॥
—तिलोयपण्णत्ति अ० ४, पृ० १७०

जिणपडिमासंछण्णो भवणोवरितुंगकूटसिहरम्मि।
पणुवीसवित्थडा सा गंगाधारा तहिं पडइ॥ ६२॥
—जम्बूद्वीपपण्णत्ति पृ० ४८

सिरिगिहसीसट्ठियंबुज कण्णिय सिंहासणं-जडामउलं।
जिणमभिसेत्तुमणा वा आदिण्णा मत्थए गंगा॥ ५९०॥—त्रिलोकसार

विजयार्ध पर्वत—भरत क्षेत्र के बहुमध्य भाग में रजतमय और नाना प्रकार के उत्तम रत्नों से रमणीय विजयार्ध नामक पर्वत है। यह २५ योजन ऊँचा है और ५० योजन चौड़ा है। यह पूर्व-पश्चिम में लवण समुद्र को स्पर्श कर रहा है। अर्थात् ९७४८,१२/१९ योजन लम्बा है। १० योजन ऊपर जाकर इस पर्वत के दोनों पार्श्व भागों में १० योजन विस्तृत विद्याधरों की एक एक श्रेणी हैं। इनमें दक्षिण दिशा की श्रेणी में ५० और उत्तर दिशा की श्रेणी में ६० नगर स्थित हैं। जिनमें विद्याधर मनुष्य रहते हैं।

विद्याधर श्रेणी से १० योजन ऊपर जाकर विजयार्ध के दोनों पार्श्व भागों में १० योजन विस्तार वाली आभियोग्य देवों की श्रेणी हैं। इन श्रेणियों में सौधर्म इन्द्र के वाहन जाति के व्यंतर देव निवास करते हैं।

इस श्रेणी से ५ योजन ऊपर जाकर १० योजन विस्तार वाला विजयार्ध पर्वत का शिखर है। इस पर नौ कूट बने हुए हैं। पूर्व दिशा के कूट पर जिन-मन्दिर है और शेष आठ कूटों पर देव और देवियों के भवन बने हुए हैं।

इस पर्वत के भूमितल पर दोनों पार्श्व भागों में दो गव्यूति विस्तीर्ण और पर्वत के बराबर लम्बे वनखण्ड हैं। दो कोश ऊँची, ५०० धनुष चौड़ी, तोरण द्वारों से युक्त ऐसी वन वेदिका है।

इस विजयार्ध पर्वत में ५० योजन लम्बी, ८ योजन ऊँची और १२ योजन चौड़ी ऐसी दो गुफायें हैं। पूर्व में तिमिस्र गुफा और पश्चिम में खण्डप्रपात गुफा है। ये दोनों गुफायें वज्रमय कपाटों से युक्त अनादिनिधन हैं।

ऊपर कही हुई गंगा नदी इस विजयार्ध की तिमिस्र गुफा में प्रवेश करके [illegible] योजन लम्बी गुफा में बहती हुई गुफा के दक्षिण द्वार से बाहर निकलती है। यह गंगा नदी ११९, ३/९१ योजन तक दक्षिण भरत में बहकर पुनः पूर्व की ओर मुड़कर १४००० प्रमाण परिवार नदियों युक्त होती हुई अन्ततः मागध तीर्थ पर लवण समुद्र में प्रवेश कर जाती है। "गंगा महानदी की ये कुण्डों से उत्पन्न हुई परिवार नदियाँ ढाई म्लेच्छ खण्डों में ही हैं आर्यखण्ड में नहीं हैं।"[1]

यह गंगा महानदी अपने उद्गम स्थान में ६,१/४ योजन है और समुद्र के प्रवेश स्थान पर ६२,१/२ योजन हो गई है। जैसा यह गंगा नदी का वर्णन हुआ है। ऐसा ही सिन्धु नदी का सारा वर्णन समझ लेना चाहिये। अन्तर इतना ही है कि सिन्धु नदी पद्मद्रह के पश्चिम तोरण द्वार से निकल कर सिन्धुकूट पर

---

१. गंगा महाणदीए अड्ढाइज्जेसु मेच्छखंडेसु।
कुंडजसरिपरिवारा हुवंति ण हु अज्जखंडम्मि ॥ २४५ ॥

—तिलोय प०, पृ० १७१

गिरकर नीचे बहकर खण्डप्रपात गुफा में प्रवेश करती है पुनः बाहर निकल कर पश्चिम प्रभास तीर्थ पर लवणसमुद्र में प्रवेश कर जाती है।

छहखण्ड व्यवस्था—गंगा-सिन्धु नदी और विजयार्ध पर्वत के निमित्त से भरत क्षेत्र के छह खण्ड हो जाते हैं। उत्तर और दक्षिण भरत के तीन तीन खण्ड हैं। इनमें से दक्षिण भरत के मध्य का आर्यखण्ड है, शेष पाँच म्लेच्छ खण्ड नाम से प्रसिद्ध हैं।

वृषभाचल—उत्तर भरत के मध्य में जो म्लेच्छखण्ड है उसके बहुमध्य भाग में रत्नों से निर्मित वृषभगिरि है। यह चक्रवर्तियों के मान का मर्दन करने वाला है और नाना चक्रवर्तियों के नामों से व्याप्त है। यह पर्वत १०० योजन ऊँचा है, मूल में १०० योजन, मध्य में ७५ योजन और शिखर पर ५० योजन विस्तृत है। इस पर्वत पर 'वृषभ' नाम का देव अपने परिवार सहित रहता है जिसके भवन में अनादिनिधन जिनमंदिर है।

इस प्रकार से भरत क्षेत्र में छह खण्ड विभाग हैं जिनको पूर्णतया जीतकर चक्रवर्ती इस भरत क्षेत्र पर एकछत्र शासन करते हुए सार्वभौम सम्राट् कहलाते हैं। नारायण बलभद्र और प्रतिनारायण विजयार्ध पर्वत तक तीन खण्ड का विजय कर अर्धचक्री माने जाते हैं।

षट्काल परिवर्तन—भरत और ऐरावत क्षेत्र में रहँट घटिका न्याय से अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल अनन्तानन्त होते हैं।

अवसर्पिणी काल में मनुष्य एवं तिर्यंचों की आयु, शरीर की ऊँचाई और विभूति आदि सब ही घटते तथा उत्सर्पिणी काल में बढ़ते रहते हैं। इन दोनों में से प्रत्येक के छह-छह भेद हैं—सुषमसुषमा, सुषमा, सुषमदुष्षमा, दुष्षमासुषमा, दुष्षमा और अतिदुष्षमा। उत्सर्पिणी में इससे उल्टे अतिदुष्षमा से प्रारम्भ होकर सुषमसुषमा तक होते हैं।

असंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी की शलाकाओं के बीत जाने पर प्रसिद्ध एक हुंडावसर्पिणी आती है। उसके चिह्न ये हैं—

"इसके भीतर तृतीय काल की स्थिति में से कुछ काल के अवशेष रहने पर ही वर्षा आदि पड़ने लगती है और विकलत्रय जीवों की उत्पत्ति होने लगती है। इसी काल से कल्पवृक्षों का अन्त और कर्मभूमि का व्यापार प्रारम्भ हो जाता है। उसी काल में प्रथम तीर्थंकर और प्रथम चक्रवर्ती भी उत्पन्न हो जाते हैं। चक्रवर्ती का विजयभंग और थोड़े जीवों का मोक्षगमन भी हो जाता है। इसके अतिरिक्त चक्रवर्ती द्वारा की गई द्विजों के वंश की उत्पत्ति भी हो जाती है। दुष्षमसुषमा नामक चतुर्थकाल में अट्ठावन ही शलाका पुरुष होते हैं। नौवें से सोलहवें तीर्थंकर तक सात तीर्थों में धर्म की व्युच्छित्ति भी हो जाती है। ग्यारह

रुद्र और कलहप्रिय नव नारद भी होते हैं। इसके अतिरिक्त सातवें, तेईसवें और अन्तिम तीर्थंकर पर उपसर्ग भी होता है। तृतीय, चतुर्थ व पंचम काल में उत्तम धर्म को नष्ट करने वाले विविध प्रकार के कुदेव और कुलिंगी भी दिखने लगते हैं। तथा चाण्डाल, शबर, श्वपच, पुलिंद, लाहल और किरात इत्यादि जातियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। तथा दुष्षमकाल में ४२ कल्की और उपकल्की होते हैं। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकंप और वज्राग्नि आदि का गिरना इत्यादि विचित्र भेदों को लिए हुए नाना प्रकार के दोष इस हुंडावसर्पिणी में हुआ करते हैं।"[1]

इस भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड में आजकल हुंडावसर्पिणी का पंचम काल चल रहा है।

आर्यखण्ड से अतिरिक्त अन्यत्र षट्काल परिवर्तन नहीं है

"पाँच म्लेच्छ खण्ड और विद्याधर की श्रेणियों में (विजयार्ध पर्वत पर) अवसर्पिणी काल में से चतुर्थ काल के प्रारम्भ से अन्त तक हानिरूप परिवर्तन होता रहता है। उत्सर्पिणी काल में से तृतीय काल के आदि से अन्त तक वृद्धिरूप परिवर्तन होता है। यहाँ अन्य कालों की प्रवृत्ति नहीं है।[2]

जिस प्रकार जम्बूद्वीप में भरत क्षेत्र है। उसी प्रकार ऐरावत क्षेत्र कहा गया है। ऐरावत क्षेत्र की सारी व्यवस्था भरत क्षेत्रवत् है।

ऐसे ही धातकीखण्ड में दो भरत और दो ऐरावत हैं। तथा पुष्करार्ध द्वीप में दो भरत दो ऐरावत हैं। यहाँ पर भी आर्यखण्ड में षट्काल परिवर्तन होता है।[3]

इस प्रकार से ४५ लाख योजन प्रमाण इस मर्त्यलोक में मात्र पाँच भरत और पाँच ऐरावत क्षेत्रों के आर्यखण्डों में ही षट्काल परिवर्तन के द्वारा मनुष्यों के शरीर की अवगाहना, आयु, सुख आदि का वृद्धि-ह्रास होता रहता है। इनसे अतिरिक्त सभी क्षेत्रों में जहाँ जैसी व्यवस्था है वैसी ही रहती है। इतने प्रमाण मर्त्यलोक में जहाँ-जहाँ भोगभूमि है वे भी वहीं पर अवस्थित हैं और जहाँ-जहाँ पर कर्मभूमि है वे भी वहीं पर स्थित हैं। "ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः" महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र के इस सूत्र से यह बात स्पष्ट ही है।

सार—१. जम्बूद्वीप ४० करोड़ मील प्रमाण है। इसके १९०वें भाग में एक छोटा सा भरत क्षेत्र है।

२. उसमें विजयार्ध पर्वत और गंगा सिंधु नदी के निमित्त से छह खण्ड हो जाते हैं।

---

१. तिलोयपण्णत्ति, पृ० ३५५

२. तिलोयपण्णत्ति, पृ० ३५३

३. त्रिलोकसार, गाथा ७७९

३. हिमवान् पर्वत पर गंगा-सिंधु नदियों के गिरने के स्थान पर गोमुख आकार की जिह्विका है। नीचे गंगाकूट में गंगादेवी के भवन की छत पर कमलासन पर जिनप्रतिमा विराजमान हैं, जिनका अभिषेक करते हुए के समान ही गंगानदी की धारा गिरती है।

४. म्लेच्छ खण्ड में 'वृषभ' नाम का पर्वत है जिस पर चक्रवर्ती अपनी प्रशस्ति लिखते हैं।

५. आर्यखण्ड के बिल्कुल मध्य में अयोध्या नगरी है। आज का उपलब्ध सारा विश्व इस आर्यखण्ड में ही है।

६. म्लेच्छखण्ड में मनुष्य जाति से म्लेच्छ न होकर क्षेत्र से म्लेच्छ हैं। अतः उनका खान पान निंद्य हो सर्वथा ऐसी बात नहीं है।

७. आजकल यहाँ आर्यखण्ड में हुंडावसर्पिणी के निमित्त से अनेक अघटित बातें हो जाती हैं।

८. प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव तृतीय काल के अन्त में ही जन्म लेकर तीन वर्ष, साढ़े आठ माह काल शेष रहने पर मोक्ष चले गये हैं। प्रथम चक्रवर्ती भरत भी तृतीय काल में हुए हैं। उनके भाई बाहुबलि द्वारा उनका विजयभंग भी काल दोष से हुआ था। सातवें, तेईसवें और अन्तिम तीर्थंकर पर उपसर्ग भी हुआ है। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकंप आदि प्राकृतिक प्रकोप प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

आर्यखण्ड

मध्यलोक में असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र हैं। उन सब के मध्य सर्वप्रथम द्वीप का नाम जम्बूद्वीप है। यह एक लाख योजन (४० करोड़ मील) विस्तार वाला, थाली के समान गोल है। इस द्वीप के बीचों-बीच एक लाख योजन ऊँचा सुमेरु पर्वत है जिसका भूमि पर विस्तार दस हजार योजन है।

इस जम्बूद्वीप में पूर्व-पश्चिम लम्बे, दक्षिण दिशा से लेकर हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी ऐसे छह कुलपर्वत हैं,। इन से विभाजित भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं।

भरत क्षेत्र का विस्तार जम्बूद्वीप के १९०वाँ भाग अर्थात् (१००००० ÷ १९० = ५२६, ६।१९) पाँच सौ छब्बीस सही छह बटे उन्नीस योजन प्रमाण है। इससे आगे हिमवान् पर्वत का विस्तार भरत क्षेत्र से दूना है। आगे-आगे के क्षेत्र और पर्वत विदेह क्षेत्र तक दूने-दूने होते हुए पुनः आगे आधे-आधे होते गये हैं। अन्तिम ऐरावत क्षेत्र, भरत क्षेत्र के समान प्रमाण वाला है।

भरत क्षेत्र के मध्य में विजयार्ध पर्वत है। यह ५० योजन (२००००० मील) चौड़ा और २५ योजन (१००००० मील) ऊँचा है। यह दोनों कोणों से लवण समुद्र को स्पर्श कर रहा है, रजतमयी है, इसमें तीन कटनी हैं, अन्तिम कटनी पर कूट और जिनमन्दिर हैं।

हिमवान् आदि छहों पर्वतों पर क्रम से पद्म, महापद्म, तिगिंच्छ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ये छह सरोवर हैं। इन सरोवरों से गंगा-सिन्धु, रोहित-रोहितास्या, हरित-हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकान्ता, सुवर्ण-कूला-रूप्यकूला और रक्ता-रक्तोदा ये चौदह नदियाँ निकलती हैं। प्रथम और अन्तिम सरोवर से तीन-तीन एवं अन्य सरोवरों से दो-दो नदियाँ निकलती हैं। प्रत्येक क्षेत्र में दो-दो नदियाँ बहती हैं।

प्रत्येक सरोवर में एक-एक पृथ्वीकायिक कमल हैं। जिन पर क्रम से श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी देवियाँ निवास करती हैं। इनमें देवियों के परिवार कमल भी हैं जो कि मुख्य कमल से आधे प्रमाण वाले हैं।

भरत क्षेत्र में गंगा-सिन्धु नदी और विजयार्ध पर्वत के निमित्त से छह खण्ड हो जाते हैं। ऐसे ही ऐरावत क्षेत्र में विजयार्ध पर्वत तथा रक्ता-रक्तोदा नदियों के निमित्त से छह खण्ड हो जाते हैं।

इस जम्बूद्वीप में भरत और ऐरावत क्षेत्र में षट् काल परिवर्तन होता रहता है। हैमवत, [हरि, विदेह के अन्तर्गत देवकुरु,] उत्तरकुरु, रम्यक और हैरण्यवत

इन छह स्थानों पर भोगभूमि की व्यवस्था है जो कि सदा काल एक सदृश होने से शाश्वत है। विदेह क्षेत्र में पूर्व विदेह और पश्चिम विदेह ऐसे दो भेद हो गये हैं। उनमें भी वक्षार पर्वत तथा विभंगा नदियों के निमित्त से बत्तीस विदेह हो गये हैं। इन सभी में विजयार्ध पर्वत हैं तथा गंगा-सिन्धु और रक्ता-रक्तोदा नदियाँ बहती हैं। इस कारण प्रत्येक विदेह में भी छह-छह खण्ड हो जाते हैं। सभी में मध्य का एक आर्यखण्ड है, शेष पाँच म्लेच्छ खण्ड हैं। सभी विदेह क्षेत्र में चतुर्थ काल के प्रारम्भ के समान कर्मभूमि की व्यवस्था सदा काल रहती है अतः इन विदेहों में शाश्वत कर्मभूमि रचना है। मात्र भरत ऐरावत क्षेत्र में ही वृद्धि ह्रास होता है। जैसा कि श्री उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र महाशास्त्र में कहा है—

"भरतैरावतयोर्वृद्धि-ह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिणीभ्याम्"[1]

भरत और ऐरावत क्षेत्र में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के छह काल परिवर्तन वृद्धि-ह्रास होता रहता है। इस सूत्र के भाष्य में श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं कि—

"तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यसिद्धेर्भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासयोगः अधिकरणनिर्देशो वा, तत्रस्थानां हि मनुष्यादीनामनुभवायुःप्रमाणादिकृतौ वृद्धिह्रासौ षट्कालाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्[2]।"

उस में स्थित हो जाने के कारण उसके वाचक शब्द द्वारा कहे जाने की सिद्धि है, इस कारण भरत और ऐरावत क्षेत्रों के वृद्धि और ह्रास का योग बतला दिया है। अथवा अधिकरण निर्देश मान करके उनमें स्थित हो रहे, मनुष्य, तिर्यञ्च आदि जीवों के अनुभव, आयु, शरीर की ऊँचाई, बल, सुख आदि का वृद्धि ह्रास समझना चाहिये।

आगे के सूत्र में स्वयं ही श्री उमास्वामी आचार्य ने कह दिया है।

"ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः"[3] ॥ २९ ॥

इन दोनों क्षेत्रों से अतिरिक्त जो भूमियाँ हैं वे ज्यों की त्यों अवस्थित हैं। अर्थात् अन्य हैमवत आदि क्षेत्रों में जो व्यवस्था है सो अनादिनिधन है वहाँ षट् काल परिवर्तन नहीं है।

इस बात को इसी ग्रन्थ में चतुर्थ अध्याय के "मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो-

---

१. तत्त्वार्थसूत्र अ० ३।

२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पंचम खण्ड, पृ० ३४६।

३. तत्त्वार्थसूत्र, अ० ३।

नृलोके ?[1] ॥१३॥ इस सूत्र के भाष्य में श्री विद्यानन्द आचार्य ने अपने शब्दों में ही स्पष्ट किया है। जिसकी हिन्दी पं० माणिकचंद जी न्यायाचार्य ने की है वह इस प्रकार है—

"वह भूमि का नीचा ऊँचापन भरत ऐरावत क्षेत्रों में काल वश हो रहा देखा जा चुका है। स्वयं पूज्यचरण सूत्रकार का इस प्रकार वचन है कि भरत ऐरावत क्षेत्रों के वृद्धि और ह्रास छह समयवाली उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालों करके हो जाते हैं। अर्थात् भरत और ऐरावत में आकाश की चौड़ाई न्यारी-न्यारी एक लाख के एक सौ नब्बे वें भाग यानी पाँच सौ छब्बीस सही छह बटे उन्नीस योजन की ही रहती है। किन्तु अवगाहन शक्ति के अनुसार इतने ही आकाश में भूमि बहुत घट-बढ़ जाती है। न्यून से न्यून पाँच सौ छब्बीस, छह बटे उन्नीस योजन भूमि अवश्य रहेगी। बढ़ने पर इससे कई गुनी अधिक हो सकती है। इसी प्रकार अनेक स्थल कहीं बीसों कोस ऊँचे, नीचे, टेढ़े, तिरछे, कोनियाये हो रहे हो जाते हैं। अतः भ्रमण करता हुआ सूर्य जब दोपहर के समय ऊपर आ जाता है, तब सूर्य से सीधी रेखा पर समतल भूमि में खड़े हुए मनुष्यों की छाया किंचित् भी इधर-उधर नहीं पड़ेगी। किन्तु नीचे ऊँचे तिरछे प्रदेशों पर खड़े हुए मनुष्यों की छाया इधर-उधर पड़ जायेगी। क्योंकि सीधी रेखा का मध्यम ठीक नहीं पड़ा हुआ है। भले ही लकड़ी को टेढ़ी या सीधी खड़ी कर उसकी छाया को देख लो।"

"तन्मनुष्याणामुत्सेधानुभवायुरादिभिर्वृद्धिह्रासो प्रतिपादितौ न भूमेरपरपुद्गलैरिति न मन्तव्यं, गौणशब्दाप्रयोगान्मुख्यस्य घटनादन्यथा मुख्यशब्दार्थातिक्रमे प्रयोजनाभावात्। तेन भरतैरावतयोः क्षेत्रयोर्वृद्धिह्रासौ मुख्यतः प्रतिपत्तव्यौ, गुणभावतस्तु तत्स्थमनुष्याणामिति तथावचनं सफलतामस्तु ते प्रतीतिश्चानुल्लंघिता स्यात्।"[2]

थोड़े आकाश में बड़ी अवगाहना वाली वस्तु के समा जाने में आश्चर्य प्रगट करते हुए कोई विद्वान् यों मान बैठे हैं कि भरत, ऐरावत क्षेत्रों को वृद्धि हानि नहीं होती है, किन्तु उनमें रहने वाले मनुष्यों के शरीर की उच्चता, अनुभव, आयु, सुख आदि करके वृद्धि और ह्रास हो रहे सूत्रकार द्वारा समझाये गये हैं। अन्य पुद्गलों करके भूमि के वृद्धि और ह्रास सूत्र में नहीं कहे गये हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं मानना चाहिये। क्योंकि गौण हो रहे शब्दों का सूत्रकार ने प्रयोग नहीं किया है। अतः मुख्य अर्थ घटित हो जाता है।........इसलिये भरत ऐरावत शब्द का मुख्य अर्थ पकड़ना चाहिये। तिस कारण भरत और

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, अ० ४। २. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पंचम खंड।

ऐरावत दोनों क्षेत्रों की वृद्धि और हानि हो रही मुख्यरूप से समझ लेनी चाहिये। हाँ, गौणरूप से तो उन दोनों क्षेत्रों में ठहर रहे मनुष्यों के अनुभव आदि करके वृद्धि और ह्रास हो रहे समझ लो, यों तुम्हारे यहाँ सूत्रकार का तिस प्रकार का वचन सफलता को प्राप्त हो जावो और क्षेत्र की वृद्धि या हानि मान लेने पर प्रत्यक्ष सिद्ध या अनुमान सिद्ध प्रतीतियों का उल्लंघन नहीं किया जा चुका है।

भावार्थ—समय के अनुसार अन्य क्षेत्रों में नहीं केवल भरत, ऐरावत में ही भूमि ऊँची, नीची घटती बढ़ती हो जाती है। तदनुसार दोपहर के समय छाया का घटना बढ़ना या क्वचित् सूर्य का देर या शीघ्रता से उदय, अस्त होना घटित हो जाता है। तभी तो अगले "ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः" इस सूत्र में पड़ा हुआ 'भूमयः' शब्द व्यर्थ संभव न होकर ज्ञापन करता है कि भरत, ऐरावत क्षेत्र की भूमियाँ अवस्थित नहीं हैं। ऊँची-नीची घटती-बढ़ती हो जाती हैं।[1]

इसी ग्रन्थ में अन्यत्र लिखा है कि कोई गहरे कुएँ में खड़ा है उसे मध्याह्न में दो घंटे ही दिन प्रतीत होगा बाकी समय रात्रि ही दिखेगी।

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि आज जो भारत और अमेरिका आदि में दिन रात का बहुत बड़ा अन्तर दिख रहा है वह भी इस क्षेत्र की वृद्धि हानि के कारण ही दिख रहा है।

तथा जो पृथ्वी को गोल नारंगी के आकार की मानते हैं उनकी बात भी कुछ अंश में घटित की जा सकती है।

श्री यतिवृषभ आचार्य कहते हैं—

छठे काल के अन्त में उनंचास दिन शेष रहने पर घोर प्रलय काल प्रवृत्त होता है। उस समय सात दिन तक महागम्भीर और भीषण संवर्तक वायु चलती है जो वृक्ष, पर्वत और शिला आदि को चूर्ण कर देती है पुनः तुहिन—बर्फ, अग्नि आदि की वर्षा होती है। अर्थात् तुहिनजल, विषजल, धूम, धूलि, वज्र और महाअग्नि इनकी क्रम से सात-सात दिन तक वर्षा होती है। अर्थात् भीषण वायु से लेकर उनंचास दिन तक विष अग्नि आदि की वर्षा होती है। "तब भरत क्षेत्र के भीतर आर्यखण्ड में चित्रा पृथ्वी के ऊपर वृद्धिगत एक योजन की भूमि जल कर नष्ट हो जाती है। वज्र और महाअग्नि के बल से आर्यखण्ड की बढ़ी हुई भूमि अपने पूर्ववर्ती स्कंध स्वरूप को छोड़कर लोकान्त तक पहुँच जाती है।[2]"

---

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पंचम खंड, पृ० ५७२-५७३।

२. एवं कमेण भरहे अज्जाखण्डम्मि जोयणं एक्कं।
चित्ताए उवरि ठिदा दज्झइ वड्ढिंगदा भूमी॥ १५५१॥

यह एक योजन २००० कोश अर्थात् ४००० मील का है। इस आर्यखण्ड की भूमि जब इतनी बढ़ी हुई है तब इस बात से जो पृथ्वी को नारंगी के समान गोल मानते हैं उनकी बात कुछ अंशों में सही मानी जा सकती है। हाँ, यह नारंगी के समान गोल न होकर कहीं-कहीं आधी नारङ्गी के समान ऊपर में उठी हुई हो सकती है।

षट्काल परिवर्तन

त्रिलोकसार में कहते हैं—

पाँच भरत और पाँच ऐरावत क्षेत्रों में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी नाम के दो काल वर्तते हैं। अवसर्पिणी काल के सुषमासुषमा, सुषमा, सुषमा-दुःषमा, दुःषमासुषमा, दुःषमा और अतिदुःषमा नाम से छह काल होते हैं। उत्सर्पिणी के इससे उल्टे अतिदुःषमा, दुःषमा, दुःषमासुषमा, सुषमादुःषमा, सुषमा और सुषमासुषमा नाम से छह काल होते हैं।

उन सुषमासुषमा आदि की स्थिति क्रम से चार कोड़ाकोड़ी सागर, तीन कोड़ाकोड़ी सागर, दो कोड़ाकोड़ी सागर, ४२ हजार वर्ष एक कोड़ाकोड़ी सागर, इक्कीस हजार वर्ष और इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण है। उत्सर्पिणी में इससे विपरीत है। इनमें से सुषमासुषमा आदि तीन कालों में उत्तम, मध्यम और जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था है।

प्रथम काल की आदि में मनुष्यों की आयु का प्रमाण तीन पल्य है, आगे ह्रास होते-होते अन्त में दो पल्य प्रमाण है। द्वितीय काल के प्रारम्भ में दो पल्य और अन्त में एक पल्य प्रमाण है। तृतीय काल के प्रारम्भ में एक पल्य और अन्त में पूर्वकोटि प्रमाण है। चतुर्थ काल के प्रारम्भ में पूर्व कोटिवर्ष अन्त में १२० वर्ष है। पंचम काल की आदि में १२० वर्ष अन्त में २० वर्ष है। छठे काल के प्रारम्भ में २० वर्ष, अन्त में १५ वर्ष प्रमाण है। उत्सर्पिणी में इससे उल्टा समझना।

प्रथम काल के मनुष्य तीन दिन बाद भोजन करते हैं, द्वितीय काल के दो दिन बाद, तृतीय काल के एक दिन बाद, चतुर्थ काल के दो दिन में एक बार, पंचम काल के बहुत बार और छठे काल के बार बार भोजन करते हैं।

तीन काल तक के भोगभूमिज मनुष्य दश प्रकार के कल्प वृक्षों से अपना भोजन आदि ग्रहण करते हैं।

वज्जमहागी बलेणं अज्जाखंडस्स वड्ढिया भूमी।
पुव्विल्ल खंडरूवं मुत्तूणं जादि लोयंतं ॥ १५५२ ॥

—तिलोयपण्णत्ति अधिकार ४

वर्तमान अवसर्पिणी की व्यवस्था

इस अवसर्पिणी काल के तृतीय काल में पल्य का आठवाँ भाग अवशिष्ट रहने पर प्रतिश्रुति से लेकर ऋषभदेव पर्यन्त १५ कुलकर हुए हैं ।[1]

तृतीय काल में ही तीन वर्ष साढ़े आठ मास अवशिष्ट रहने पर ऋषभदेव मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। ऐसे ही अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर भी चतुर्थ काल में तीन वर्ष साढ़े आठ मास शेष रहने पर निर्वाण को प्राप्त हुए हैं। वर्तमान में पंचम काल चल रहा है इसके तीन वर्ष साढ़े आठ माह शेष रहने पर अन्तिम वीरांगद मुनि के हाथ से कल्कि राजा द्वारा ग्रास को कर रूप में माँगे जाने पर मुनि का चतुर्विध संघ सहित सल्लेखना ग्रहण कर लेने से धर्म का अन्त, राजा का अन्त और अग्नि का अन्त एक ही दिन में हो जावेगा।

प्रलयकाल

छठे काल के अन्त में संवर्तक नाम की वायु पर्वत, वृक्ष और भूमि आदि को चूर्ण कर देती है। तब वहाँ पर स्थित सभी जीव मूर्च्छित हो जाते हैं। विजयार्ध पर्वत, गंगा-सिन्धु नदी और क्षुद्र बिल आदि के निकट रहने वाले जीव इनमें स्वयं प्रवेश कर जाते हैं। तथा दयावान देव और विद्याधर कुछ मनुष्य आदि युगलों को वहाँ से ले जाते हैं।[2] इस छठे काल के अन्त में पवन, अतिशीत पवन, क्षाररस, विष, कठोर अग्नि, धूलि और धुँआ इन सात वस्तुओं की क्रम से सात-सात दिन तक वर्षा होती है। अर्थात् ४९ दिनों तक इस अग्नि आदि की वर्षा होती है। उस समय अवशेष रहे मनुष्य भी नष्ट हो जाते हैं, काल के वश से विष और अग्नि से दग्ध हुई पृथ्वी एक योजन नीचे तक चूर-चूर हो जाती है।

इस अवसर्पिणी के बाद उत्सर्पिणी काल आता है। उस समय मेघ क्रम से जल, दूध, घी, अमृत और रस की वर्षा सात-सात दिन तक करते हैं। तब विजयार्ध की गुफा आदि में स्थित जीव पृथ्वी के शीतल हो जाने पर वहाँ से निकल कर पृथ्वी पर फैल जाते हैं। आगे पुनः अतिदुःषमा के बाद दुःषमा आदि काल वर्तते हैं। इस प्रकार भरत और ऐरावत के आर्य खण्डों में यह षट्काल परिवर्तन होता है अन्यत्र नहीं है।

अन्यत्र क्या व्यवस्था है

देवकुरु और उत्तर कुरु में सुषमा-सुषमा काल अर्थात् उत्तम भोगभूमि है। हरि क्षेत्र और रम्यक क्षेत्र में सुषमा काल अर्थात् मध्यम भोगभूमि की व्यव-

१. त्रिलोकसार, गाथा ७९२, ९३, ९४ में ऋषभदेव को भी कुलकर मानकर १५ कहे हैं। अन्यत्र ग्रन्थ में १४ माने हैं।

२. त्रिलोकसार गाथा ८६४–६५ ।

स्था है। हैमवत और हैरण्यवत में सुषमादुःषमा काल अर्थात् जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था है। तथा विदेह क्षेत्र में सदा ही चतुर्थ काल वर्तता है।[1]

भरत और ऐरावत के पाँच-पाँच म्लेच्छ खण्डों में तथा विजयार्ध की विद्याधर की श्रेणियों में चतुर्थ काल के आदि से लेकर उसी काल के अन्त पर्यन्त हानि वृद्धि होती रहती है।[2]

इस प्रकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि क्षेत्र में व क्षेत्रस्थ मनुष्य, तिर्यंचों में जो आयु, अवगाहन आदि का ह्रास देखा जा रहा है वह अवसर्पिणी काल के निमित्त से है तथा जो भी जल के स्थान पर स्थल, पर्वत के स्थान पर क्षेत्र आदि परिवर्तन दिख रहे हैं वे भी इसी आर्यखण्ड में ही हैं। आर्यखण्ड के बाहर में न कहीं कोई ऐसा परिर्वतन हो सकता है और न कहीं ऐसा नाश ही सम्भव है क्योंकि प्रलय काल इस आर्यखण्ड में ही आता है।

यही कारण है कि यहाँ आर्यखण्ड में कोई भी नदी, पर्वत, सरोवर, जिन मन्दिर आदि अकृत्रिम रचनायें नहीं हैं। ये गंगा आदि नदियाँ जो दृष्टिगोचर हो रही हैं वे अकृत्रिम न होकर कृत्रिम हैं। तथा अकृत्रिम नदियाँ व उनकी परिवार नदियाँ भी यहाँ आर्यखण्ड में नहीं हैं जैसा कि कहा है—

'गंगा महानदी की ये कुण्डों से उत्पन्न हुई १४००० परिवार नदियाँ ढाई म्लेच्छ खण्डों में ही हैं आर्यखण्ड में नहीं हैं।[3]'

आर्यखण्ड कितना बड़ा है

यह भरत क्षेत्र जम्बूद्वीप के १९० वें भाग (५२६,६/१९) योजन प्रमाण है। इसके बीच में ५० योजन विस्तृत विजयार्ध है। उसे घटाकर आधा करने से द णि भारत का प्रमाण आता है। यथा (५२६,६/१९ – ५०) ÷ २ = २३८,३/१९ योजन है। हिमवान पर्वत पर पद्म सरोवर की लम्बाई १००० योजन है, गंगा सिन्धु नदियाँ पर्वत पर पूर्व-पश्चिम में ५-५ सौ योजन बहकर दक्षिण में मुड़ती हैं। अतः यह आर्यखण्ड पूर्व-पश्चिम में १००० + ५०० + ५०० = २००० योजन लम्बा और दक्षिण-उत्तर में २३८ योजन चौड़ा है। इनको आपस में गुणा करने पर २३८ योजन × २००० = ४७६००० योजन प्रमाण आर्यखण्ड का क्षेत्रफल हुआ। इसके मील बनाने से ४७६००० × ४००० = १९०४००००० (एक सौ नब्बे करोड़ चालीस लाख) मील प्रमाण क्षेत्रफल होता है।

इस आर्यखण्ड के मध्य में अयोध्या नगरी है। अयोध्या के दक्षिण में ११९ योजन की दूरी पर लवण समुद्र की वेदी है और उत्तर की तरफ इतनी ही दूरी

१. त्रिलोकसार गाथा ८८२। २. त्रिलोकसार गाथा ८८३।

३. तिलोयपण्णत्ति, प्रथम भाग, पृ० १७१।

पर विजयार्ध पर्वत की वेदिका है। अयोध्या से पूर्व में १००० योजन की दूरी पर गंगा नदी की तट वेदी है और पश्चिम में इतनी दूरी पर ही सिन्धु नदी की तट वेदी है। अर्थात् आर्यखण्ड की दक्षिण दिशा में लवण समुद्र, उत्तर में विजयार्ध, पूर्व में गंगा नदी एवं पश्चिम में सिन्धु नदी है। ये चारों आर्यखण्ड की सीमारूप हैं।

अयोध्या से दक्षिण में (११९×४०००=४७६०००) चार लाख छियत्तर हजार मील जाने पर लवण समुद्र है। इतना ही उत्तर जाने पर विजयार्ध पर्वत है। ऐसे ही अयोध्या से पूर्व में (१०००×४०००=४००००००) चालीस लाख मील जाने पर गंगा नदी एवं पश्चिम में इतना ही जाने पर सिन्धु नदी है।

आज का उपलब्ध सारा विश्व इस आर्यखण्ड में है। जम्बूद्वीप, उसके अन्तर्गत पर्वत, नदी, सरोवर, क्षेत्र आदि के माप का योजन २००० कोश का माना गया है।

जम्बूद्वीपपण्णत्ति की प्रस्तावना में भी इसके बारे में अच्छा विस्तार है। जिसके कुछ अंश देखिये—

'इस योजन की दूरी आज कल के रैखिक माप में क्या होगी ? यदि हम २ हाथ = १ गज मानते हैं तो स्थूल रूप से एक योजन ८०००००० गज के बराबर अथवा ४५४५.४५ मील के बराबर प्राप्त होता है। यदि हम एक कोस को आजकल के २ मील के बराबर मान लें तो एक योजन ४००० मील के बराबर प्राप्त होता है।'

निष्कर्ष यह निकलता है कि जम्बूद्वीप में जो भी सुमेरु हिमवान् आदि पर्वत हैमवत, हरि, विदेह आदि क्षेत्र, गंगा आदि नदियाँ, पद्म आदि सरोवर हैं ये सब आर्यखण्ड के बाहर हैं।

आर्यखण्ड में क्या क्या है

इस युग की आदि में प्रभु श्री ऋषभदेव की आज्ञा से इन्द्र ने देश, नगर, ग्राम आदि की रचना की थी, तथा स्वयं प्रभु जी ऋषभदेव ने क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन तीन वर्णों की व्यवस्था बनाई थी, जिसका विस्तार आदिपुराण में है। उन समय के बनाये गये बहुत कुछ ग्राम, नगर, देश आज भी उपलब्ध हैं। यथा—

'अथानन्तर प्रभु के स्मरण करने मात्र से देवों के साथ इन्द्र आया और उसने नीचे लिखे अनुसार विभाग कर प्रजा की जीविका के उपाय किये। इन्द्र ने शुभ मुहूर्त में अयोध्या पुरी के बीच में जिन मंदिर की रचना की। पुनः पूर्व आदि चारों दिशाओं में भी जिन मंदिर बनाये। तदनन्तर कौशल आदि महादेश, अयोध्या आदि नगर, वन और सीमा सहित गाँव तथा खेड़ों आदि की रचना की।

सुकौशल, अवन्ती, पुण्ड्र, उण्ड्र, अश्मक, रम्यक, कुरु, काशी, कलिंग, अंग, बंग, सुह्म, समुद्रक, काश्मीर, उशीनर, आनर्त, वत्स, पंचाल, मालव, दशार्ण, कच्छ, मगध, विदर्भ, कुरु, जांगल, कराहट, महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, आभिर, कोंकण, वनवास, आन्ध्र, कर्नाटक, कौशल, चौण, केरल, दारु, अभीसार, सौवीर, शूरसेन, अप्रांतक, विदेह, सिन्धु, गान्धार, यवन, चेदी, पल्लव, काम्बोज, आरट्ट, बालहिक, तुरुष्क, शक, और केकय, इन देशों की रचना की तथा इनके सिवाय उस समय और भी अनेक देशों का विभाग किया।[1]

तथ्य क्या है

१. एक राजू चौड़े निन्न्यावें हजार चालीस योजन ऊँचे इस मध्य लोक में असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। उनमें सर्वप्रथम द्वीप जम्बूद्वीप है। यह एक लाख योजन (४० करोड़ मील) विस्तृत है।

२. इस जम्बूद्वीप के मध्य में सुमेरु पर्वत है। इसी में भरत, हैमवत आदि सात क्षेत्र हैं। हिमवान् आदि छः कुल पर्वत हैं। नदी सरोवर आदि अनेक रचनायें हैं।

३. इसके एक सौ नब्बे वें भाग प्रमाण भरत क्षेत्र व इतने ही प्रमाण ऐरावत क्षेत्र में जो आर्यखण्ड हैं उन आर्यखण्ड में ही षट्काल परिवर्तन से वृद्धि ह्रास होता है। अन्यत्र कहीं भी परिवर्तन नहीं है।

४. अवसर्पिणी के कर्म भूमि की आदि में तीर्थंकर ऋषभदेव की आज्ञानुसार इन्द्र ने बावन देश और अनेक नगरियाँ बसायी थीं। जिनमें से अयोध्या, हस्तिनापुर आदि नगरियाँ आज भी विद्यमान हैं।

५. इस भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड में ही आज का उपलब्ध सारा विश्व है। इस आर्यखण्ड के भीतर में गंगा-सिन्धु नदी, सुमेरु पर्वत और विदेह क्षेत्र आदि को मानना त्रिलोकसार आदि ग्रन्थों के अनुकूल नहीं है क्योंकि अकृत्रिम गंगा-सिन्धु नदी तो आर्यखण्ड के पूर्व-पश्चिम सीमा में हैं।

---

१. आदिपुराण, पृ० ३६०।

लवण समुद्र

लवणसमुद्र जम्बूद्वीप को चारों ओर से घेरे हुए खाई के सदृश गोल है। इसका विस्तार दो लाख योजन प्रमाण है। एक नाव के ऊपर अधोमुखी दूसरी नाव के रखने से जैसा आकार होता है उसी प्रकार वह समुद्र चारों ओर आकाश में मण्डलाकार से स्थित है। उस समुद्र का विस्तार ऊपर दस हजार योजन और चित्रापृथ्वी के समभाग में दो लाख योजन है। समुद्र के नीचे दोनों तटों में से प्रत्येक तट से पंचानबे हजार योजन प्रवेश करने पर दोनों ओर से एक हजार योजन की गहराई में तल विस्तार दस हजार योजन मात्र है।[1]

समभूमि से आकाश में इसकी जल शिखा है यह अमावस्या के दिन समभूमि से ११००० योजन प्रमाण ऊँची रहती है। वह शुक्ल पक्ष में प्रतिदिन क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होकर पूर्णिमा के दिन १६००० योजन प्रमाण ऊँची हो जाती है। इस प्रकार जल के विस्तार में १६००० योजन की ऊँचाई पर दोनों ओर समान रूप से १९०००० योजन की हानि हो गई है। यहाँ प्रतियोजन की ऊँचाई पर होने वाली वृद्धि का प्रमाण ११,७/८ योजन प्रमाण है।

गहराई की अपेक्षा रत्नवेदिका से ९५ प्रदेश आगे जाकर एक प्रदेश की गहराई है ऐसे ९५ अंगुल जाकर एक अंगुल, ९५ हाथ जाकर एक हाथ, ९५ कोस जाकर एक कोस एवं ९५ योजन जाकर एक योजन की गहराई हो गई है। इसी प्रकार से ९५ हजार योजन जाकर १००० योजन की गहराई हो गई है। अर्थात् लवण समुद्र के समजल भाग से समुद्र का जल एक योजन नीचे जाने पर एक तरफ से विस्तार में ९५ योजन हानिरूप हुआ है। इसी क्रम से एक प्रदेश नीचे जाकर ९५ प्रदेशों की, एक अंगुल नीचे जाकर ९५ अंगुलों की, एक हाथ नीचे जाकर ९५ हाथों की भी हानि समझ लेना चाहिए।

अमावस्या के दिन उक्त जल शिखा की ऊँचाई ११००० योजन होती है। पूर्णिमा के दिन वह उससे ५००० योजन बढ़ जाती है। अतः ५००० के १५ वें भाग प्रमाण क्रमशः प्रतिदिन ऊँचाई में वृद्धि होती है।

१६०००-११०००/१५ = ५०००/१५,५०००/१५ = ३३३, १/३ योजन तीन सौ तैंतीस से कुछ अधिक प्रमाण प्रतिदिन वृद्धि होती है।

समुद्र के मध्य में पाताल

लवण समुद्र के मध्य भाग में चारों ओर उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य ऐसे १०८ पाताल हैं। ज्येष्ठ पाताल ४, मध्यम ४ और जघन्य १००० हैं। उत्कृष्ट

---

१. तिलोयपण्णत्ति, पृ० ४४५।

पाताल चार दिशाओं में चार हैं, मध्यम पाताल ४ विदिशाओं में ४ एवं उत्कृष्ट मध्यम के मध्य में ८ अन्तर दिशाओं में १००० जघन्य पाताल हैं।

४ उत्कृष्ट पाताल

उस समुद्र के मध्य भाग में पूर्वादि दिशाओं के क्रम से पाताल, कदम्बक, बड़वामुख और यूपकेसर नामक चार पाताल हैं। इन पातालों का विस्तार मूल में और मुख में १०००० योजन प्रमाण है। इनकी गहराई ऊँचाई और मध्य विस्तार मूल विस्तार से दस गुणा—१००००० योजन प्रमाण है। पातालों की वज्रमय भित्तिका ५०० योजन मोटी है। ये पाताल जिनेन्द्र भगवान् द्वारा अरंजन-घट विशेष के समान कहे गये हैं। पाताल के उपरिम त्रिभाग में सदा जल रहता है, उनके मूल के त्रिभाग में घनीवायु और मध्य त्रिभाग मे क्रम से जल, वायु दोनों रहते हैं। सभी पातालों के पवन सर्वकाल शुक्ल पक्षों में स्वभाव से बढ़ते हैं एवं कृष्ण पक्ष में स्वभाव से घटते हैं। शुक्ल पक्ष में पूर्णिमा तक प्रतिदिन २२२२,२/९ योजन पवन की वृद्धि हुआ करती है। पूर्णिमा के दिन पातालों के अपने-अपने तीन भागों में से नीचे के दो भागों में वायु और ऊपर के तृतीय भाग में केवल जल रहता है। अमावस्या के दिन अपने-अपने तीन भागों में से क्रमशः ऊपर के दो भागों में जल और नीचे के तीसरे भाग में केवल वायु स्थित रहता है। पातालों के अन्त में अपने-अपने मुख विस्तार को ५ से गुणा करने पर जो प्राप्त हो, उतने प्रमाण आकाश में अपने-अपने पार्श्व भागों में जलकण जाते हैं।[1] "तत्त्वार्थराजवार्तिक" ग्रंथ में जलवृद्धि का कारण किन्नरियों का नृत्य बतलाया है। यथा—"रत्नप्रभाखरपृथ्वी-भागसन्निवेशिभवनालयवातकुमारतद्वनिताक्रीडाजनितानिलसंक्षोभकृतपातालोन्मीलननिमीलनहेतुकौ वायुतोयनिष्क्रमप्रवेशौ भवतः। तत्कृता दशयोजनसहस्रविस्तारमुखजलस्योपरि पंचाशद्योजनावधृता जलवृद्धिः। तत उभयत आरत्नवेदिकायाः सर्वत्र द्विगव्यूतिप्रमाणा जलवृद्धिः। पातालोन्मीलन-वेगोपशमेन हानिः।[2]

अर्थ—रत्नप्रभा पृथ्वी के खरभाग में रहने वाली वातकुमार देवियों की क्रीड़ा से क्षुब्ध वायु के कारण ५०० योजन जल की वृद्धि होती है अर्थात् वायु और जल का निष्क्रम और प्रवेश होता है। और दोनों तरफ रत्नवेदिका पर्यन्त सर्वत्र दो गव्यूति प्रमाण जलवृद्धि होती है। पाताल के उन्मीलन के वेग की शांति से जल की हानि होती है। इन पातालों का तीसरा भाग १०००००/३ = ३३३३३१/३ योजन प्रमाण है।

---

१. तिलोयपण्णत्ति, पृ० ४४७ से ४५० तक।

२. तत्त्वार्थराजवार्तिक।

ज्येष्ठ पाताल सीमंत बिल के उपरिम भाग से संलग्न हैं। अर्थात् ये पाताल भी मृदंग के आकार गोल हैं, समभूमि से नीचे की गहराई का जो प्रमाण है वह इन पातालों की ऊँचाई है। यदि प्रश्न यह होवे कि एक लाख योजन तक इनकी गहराई समतल से नीचे कैसे होगी? तो उसका समाधान यह है कि रत्नप्रभा पृथ्वी एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है, वहाँ खरभाग, पंकभाग पर्यन्त ये पाताल पहुँचे हुए ऊँचे गहरे हैं।

४ मध्यम पाताल

विदिशाओं में भी इनके समान चार पाताल हैं उनका मुख विस्तार और मूल विस्तार १००० योजन तथा मध्य में और ऊँचाई गहराई में १०००० योजन है, इनकी वज्रमय भित्ति ५० योजन प्रमाण है। इन पातालों के उपरिम तृतीय भाग में जल, नीचे के तृतीय भाग में वायु, मध्य के तृतीय भाग में जल, वायु दोनों रहते हैं। पातालों की गहराई-ऊँचाई १०००० योजन है १००००/३ = ३३३३, १/३ पातालों का तृतीय भाग तीन हजार तीन सौ तैंतीस से कुछ अधिक है। इनमें प्रतिदिन होने वाली जलवायु की हानि-वृद्धि का प्रमाण २२२,२/९ योजन प्रमाण है।

१००० जघन्य पाताल

उत्तम, मध्यम पातालों के मध्य में आठ अन्तर दिशाओं में एक हजार जघन्य पाताल हैं। इनके विस्तार आदि का प्रमाण मध्यम पातालों की अपेक्षा दसवें भाग मात्र है अर्थात् मुख और मूल में ये पाताल १०० योजन हैं। मध्य में चौड़े और गहरे १००० हजार योजन प्रमाण हैं। इनमें भी उपरिम त्रिभाग में जल, नीचे में वायु और मध्य में जलवायु दोनों हैं। इनका त्रिभाग ३३३, १/३ योजन है और प्रतिदिन जलवायु की हानि-वृद्धि २२, २/९ योजन मात्र है।

नागकुमार देवों के १४२,००० नगर

लवणसमुद्र के बाह्य भाग में ७२००० हजार, शिखर पर २८००० और अभ्यन्तर भाग में ४२००० नगर अवस्थित हैं। समुद्र के अभ्यन्तर भाग की वेला की रक्षा करने वाले वेलंधर नागकुमार देवों के नगर ४२००० हैं। जलशिखा को धारण करने वाले नागकुमार देवों के २८००० नगर हैं एवं समुद्र के बाह्य भाग की रक्षा करने वाले नागकुमार देवों के ७२००० नगर हैं।[1]

ये नगर दोनों तटों से ७०० योजन जाकर तथा शिविर से ७००, १/२ योजन जाकर आकाश तल में स्थित हैं। इनका विस्तार १०००० योजन प्रमाण है।

१. तिलोयपण्णत्ति, पृ० ४५१।

नगरियों के तट उत्तम रत्नों से निर्मित समान गोल हैं। प्रत्येक नगरियों में ध्वजाओं, तोरणों से सहित दिव्य तट वेदियाँ हैं। उन नगरियों में उत्तम वैभव से सहित वेलंधर और भुजग देवों के प्रासाद स्थित हैं। जिन मंदिरों से रमणीय, वापी उपवनों से सहित इन नगरियों का वर्णन बहुत ही सुन्दर है। ये नगरियाँ अनादि-निधन हैं।

उत्कृष्ट पाताल के आसपास के ८ पर्वत

समुद्र के दोनों किनारों में ब्यालीस हजार योजन प्रमाण प्रवेश करके पातालों के पार्श्व भागों में आठ पर्वत हैं। (ऊपर) तट से ४२००० योजन आगे समुद्र में जाकर "पाताल" के पश्चिम दिशा में कौस्तुभ और पूर्व दिशा में कौस्तुभास नाम के दो पर्वत हैं। ये दोनों पर्वत रजतमय, धवल, १००० योजन ऊँचे, अर्ध-घट के समान आकार वाले वज्रमय मूल भाग से सहित, नाना रत्नमय अग्रभाग से सुशोभित हैं। प्रत्येक पर्वत का तिरछा विस्तार एक लाख सोलह हजार योजन है। इस प्रकार से जगती से पर्वतों तक तथा पर्वतों का विस्तार मिलाकर दो लाख योजन होता है। पर्वत का विस्तार ११६०००। जगती से पर्वत का अंतराल ४२००० + ४२००० = ८४०००। ११६००० + ८४००० = २०००००।[1]

ये पर्वत मध्य में रजतमय हैं। इनके ऊपर इन्हीं के नाम वाले कौस्तुभ-कौस्तुभास देव रहते हैं। इनकी आयु, अवगाहना आदि विजयदेव के समान हैं। कदंबपाताल की उत्तर दिशा में उदक नामक पर्वत और दक्षिण दिशा में उदका-भास नामक पर्वत हैं। ये दोनों पर्वत नीलमणि जैसे वर्ण वाले हैं। इन पर्वतों के ऊपर क्रम से शिव और शिवदेव निवास करते हैं। इनकी आयु आदि कौस्तुभदेव के समान है।

बड़वामुख पाताल की पूर्व दिशा में शंख और पश्चिम दिशा में महाशंख नामक पर्वत हैं। ये दोनों ही शंख के समान वर्ण वाले हैं। इन पर उदक, उदका-वास देव स्थित हैं, इनका वर्णन पूर्वोक्त सदृश है। यूपकेसरी के दक्षिण भाग में दक नामक पर्वत और उत्तरभाग में दकवास नामक पर्वत हैं। ये दोनों पर्वत वैडूर्यमणिमय हैं। ऊपर क्रम से लोहित, लोहितांक देव रहते हैं।

८ सूर्य द्वीप हैं

जम्बूद्वीप की जगती से ब्यालीस हजार योजन जाकर "सूर्यद्वीप" नाम से प्रसिद्ध आठ द्वीप हैं।[2] ये द्वीप पूर्व में कहे हुए कौस्तुभ आदि पर्वतों के दोनों पार्श्वभागों में स्थित होकर निकले हुए मणिमय दीपकों से युक्त शोभायमान हैं।

---

१. तिलोयपण्णत्ति, पृ० ४५२। २. तिलोयपण्णत्ति, पृ० ४५३।

त्रिलोकसार में १६ "चन्द्रद्वीप" भी माने गये हैं। यथा—अभ्यन्तर तट और बाह्य तट दोनों से ४२००० योजन छोड़कर चारों विदिशाओं के दोनों पार्श्वभागों में दो-दो, ऐसे आठ "सूर्यद्वीप" हैं। और दिशा-विदिशा के बीच में जो आठ अन्तर-दिशायें हैं उनके दोनों पार्श्वभागों में दो-दो, ऐसे १६ "चन्द्रद्वीप" नामक द्वीप हैं।[1] ये सब द्वीप ४२००० योजन व्यास वाले और गोल आकार वाले हैं। यहाँ द्वीप से "टापू" को समझना।

समुद्र में गौतम द्वीप का वर्णन

लवण समुद्र के अभ्यन्तर तट से १२००० योजन आगे जाकर १२००० योजन ऊँचा एवं इतने ही प्रमाण व्यास वाला, गोलाकार, गौतम नामक द्वीप है जो कि समुद्र में "वायव्य" विदिशा में है। ये उपर्युक्त सभी द्वीप वन, उपवन, वेदिकाओं से रम्य हैं और "जिन मन्दिर" से सहित हैं। उन द्वीपों के स्वामी वेलंधर जाति के नागकुमार देव हैं। वे अपने-अपने द्वीप के समान नाम के धारक हैं।

मागधद्वीप आदि का वर्णन

भरत क्षेत्र के पास समुद्र के तट से संख्यात योजन जाकर आगे मागध, वरतनु और प्रभास नाम के तीन द्वीप हैं। अर्थात् गंगा नदी के तोरणद्वार से आगे कितने ही योजन प्रमाण समुद्र में जाने पर "मागध" द्वीप है। जम्बूद्वीप के दक्षिण वैजयन्त द्वार से कितने ही योजन समुद्र में जाने पर "वरतनु" द्वीप है। एवं सिन्धु नदी के तोरण से कितने ही योजन जाकर "प्रभास" द्वीप है।[2] इन द्वीपों में इन्हीं नाम के देव रहते हैं। इन देवों को भरतक्षेत्र के चक्रवर्ती वश करते हैं।

ऐसे ही ऐरावत क्षेत्र के उत्तर भाग में रक्तोदा नदी के पार्श्व भाग में समुद्र के अन्दर "मागध" द्वीप, अपराजित द्वार से आगे "वरतनु" द्वीप एवं रक्ता-नदी के आगे कुछ दूर जाकर "प्रभास" द्वीप है जो कि ऐरावत क्षेत्र के चक्र-वर्तियों के द्वारा जीते जाते हैं।

४८ कुमानुष द्वीप

लवणसमुद्र में कुमानुषों के ४८ द्वीप हैं। इनमें से २४ द्वीप तो अभ्यन्तरभाग में एवं २४ द्वीप बाह्यभाग में स्थित हैं। जम्बूद्वीप की जगती से ५०० योजन आगे जाकर ४ द्वीप चारों दिशाओं में और इतने ही योजन जाकर चार द्वीप

---

१. त्रिलोकसार, गाथा ९०९। २. तिलोयपण्णत्ति, पृ० ४५४।

चारों विदिशाओं में हैं। जम्बूद्वीप की जगती से ५५० योजन आगे जाकर दिशा विदिशा की अन्तर दिशाओं में ८ द्वीप हैं। हिमवान्, विजयार्ध पर्वत के दोनों किनारों में जगती से ६०० योजन जाकर ४ द्वीप एवं उत्तर में शिखरी और विजयार्ध के दोनों पार्श्व भागों से ६०० योजन अन्तर समुद्र में जाकर ४ द्वीप हैं।

दिशागत द्वीप १०० योजन प्रमाण विस्तार वाले हैं ऐसे ही विदिशागत द्वीप ५५ योजन विस्तृत, अन्तर दिशागत द्वीप ५० योजन विस्तृत एवं पर्वत के पार्श्वगत द्वीप २५ योजन विस्तृत हैं।

ये सब उत्तम द्वीप वनखण्ड, तालाबों से रमणीय, फलफूलों के भार से संयुक्त तथा मधुर रस एवं जल से परिपूर्ण हैं। यहाँ कुभोग भूमि की व्यवस्था है। यहाँ पर जन्म लेने वाले मनुष्य "कुमानुष" कहलाते हैं और विकृत आकार वाले होते हैं। पूर्वादिक दिशाओं में स्थित चार द्वीपों के कुमानुष क्रम से एक जंघा वाले, पूँछ वाले, सींग वाले और गूँगे होते हैं। आग्नेय आदि विदिशाओं के कुमानुष क्रमशः शष्कुलीकर्ण, कर्ण प्रावरण, लम्बकर्ण और शशकर्ण होते हैं। अन्तर दिशाओं में स्थित आठ द्वीपों के वे कुमानुष क्रम से सिंह, अश्व, श्वान, महिष, वराह, शार्दूल, घूक और बन्दर के समान मुख वाले होते हैं। हिमवान् पर्वत के पूर्व-पश्चिम किनारों में क्रम से मत्स्यमुख, कालमुख तथा दक्षिण विजयार्ध के किनारों में मेषमुख, गोमुख कुमानुष होते हैं। शिखरी पर्वत के पूर्व पश्चिम किनारों पर क्रम से मेघमुख, विद्युन्मुख तथा उत्तर विजयार्ध के किनारों पर आदर्शमुख, हस्तिमुख कुमानुष होते हैं। इन सब में से एकोरुक कुमानुष गुफाओं में रहते हैं और मिष्ट मिट्टी को खाते हैं। शेष कुमानुष वृक्षों के नीचे रहकर फलफूलों से जीवन व्यतीत करते हैं।[1]

इस प्रकार से दिशागत द्वीप ४, विदिशागत ४, अन्तर दिशागत ८, पर्वत तटगत ८। ४ + ४ + ८ + ८ = २४ अन्तर्द्वीप हुए हैं, ऐसे ही लवणसमुद्र के बाह्य-भाग के भी २४ द्वीप मिलकर २४ + २४ = ४८ अन्तर्द्वीप लवण समुद्र में हैं।

कुभोगभूमि में जन्म लेने के कारण

मिथ्यात्व में रत, मन्दकषायी, मिथ्यादेवों की भक्ति में तत्पर, विषम पंचाग्नि तप तपने वाले, सम्यक्त्व रत्न से रहित जीव मरकर कुमानुष होते हैं। जो लोग तीव्र अभिमान से गर्वित होकर सम्यक्त्व और तप से युक्त साधुओं का किंचित् अपमान करते हैं, जो दिगंबर साधु की निंदा करते हैं, ऋद्धि रस आदि गौरव से युक्त होकर दोषों की आलोचना गुरु के पास नहीं करते हैं, गुरुओं के साथ

१, तिलोयपण्णत्ति, पृ० ४५५।

स्वाध्याय वंदना कर्म नहीं करते हैं, जो मुनि एकाकी विचरण करते हैं, क्रोध कलह से सहित हैं, अरहंत गुरु आदि की भक्ति से रहित, चतुर्विध संघ में वात्सल्य से रहित, मौन बिना भोजन करने वाले हैं, जो पाप में संलग्न हैं वे मृत्यु को प्राप्त होकर विषम परिपाक वाले, पाप कर्मों के फल से इन द्वीपों में कुत्सित रूप से युक्त कुमानुष उत्पन्न होते हैं।[1] त्रिलोकसार में भी यह कहा है—

दुब्भावअसूचिसूदकपुप्फवई-जाइसंकरादीहिं ।
कयदाणा वि कुवत्ते जीवा कुणरेसु जायंते ॥९२४॥

अर्थ—खोटे भाव से सहित, अपवित्र, मृतादि के सूतक पातक से सहित, रजस्वला स्त्री के संसर्ग से सहित, जातिसंकर आदि दोषों से दूषित मनुष्य जो दान करते हैं और जो कुपात्रों में दान देते हैं ये जीव कुमानुष में उत्पन्न होते हैं, क्योंकि ये जीव मिथ्यात्व और पाप से रहित किंचित् पुण्य उपार्जन करते हैं। अतः कुत्सित भोगभूमि में जन्म लेते हैं। इनकी आयु एक पल्य प्रमाण रहती है। एक कोस ऊँचे शरीर वाले हैं। युगलियाँ होते हैं। मरकर नियम से भवनत्रिक देवों में जन्म लेते हैं। कदाचित् सम्यक्त्व को प्राप्त करके ये कुमानुष सौधर्म युगल में जन्म लेते हैं।

लवणसमुद्र के दोनों ओर तट हैं। लवणसमुद्र में ही पाताल है अन्य समुद्रों में नहीं है। लवणसमुद्र के जल की गहराई और ऊँचाई में हीनाधिकता है अन्य समुद्रों के जल में नहीं है। सभी समुद्रों के जल की गहराई सर्वत्र हजार योजन है और ऊपर में जल समतल प्रमाण है। लवणसमुद्र का जल खारा है। लवण-समुद्र में जलचर जीव पाये जाते हैं। लवणसमुद्र के मत्स्य नदी के गिरने के स्थान पर ९ योजन अवगाहना वाले एवं मध्य में १८ योजन प्रमाण हैं। इसमें कछुआ, शिशमार, मगर आदि जलजंतु भरे हैं।[2]

पद्मपुराण में रावण की लंका को लवणसमुद्र में माना है अतः इस समुद्र में और भी अनेकों द्वीप हैं जैसा कि पद्मपुराण से स्पष्ट है। यथा—

अस्त्यत्र लवणांभोधौ क्रूरग्राहसमाकुलैः ।
प्रख्यातो राक्षसद्वीपः प्रभूताद्भुतसंकुलः ॥१०६॥
शतानि सप्त…………….।

अर्थ—दुष्ट मगर-मच्छों से भरे हुए इस लवणसमुद्र में अनेक आश्चर्यकारी स्थानों से युक्त प्रसिद्ध "राक्षसद्वीप" है। जो सब ओर सात योजन विस्तृत है तथा कुछ अधिक इक्कीस योजन उसकी परिधि है। उसके बीच में सुमेरु पर्वत

---

१. तिलोयपण्णत्ति, पृ० ४५७। २. तिलोयपण्णत्ति, पृ० ४५८।

के समान त्रिकूट नाम का पर्वत है जो नौ योजन ऊँचा और ५० योजन चौड़ा है, सुवर्ण तथा नाना प्रकार की मणियों से देदीप्यमान एवं शिलाओं के समूह से व्याप्त है। राक्षसों के इन्द्र भीम ने मेघवाहन के लिए वह दिया था। तट पर उत्पन्न हुए नाना प्रकार के चित्र-विचित्र वृक्षों से सुशोभित उस त्रिकूटाचल के शिखर पर लंका नाम की नगरी है जो मणि और रत्नों की किरणों तथा स्वर्ण के विमानों के समान मनोहर महलों से एवं क्रीड़ा आदि के योग्य सुन्दर प्रदेशों से अत्यंत शोभायमान है। जो सब ओर से तीस योजन चौड़ी है तथा बहुत बड़े प्राकार और परिखा से युक्त होने के कारण दूसरी पृथ्वी के समान जान पड़ती है।

लंका के समीप में और भी ऐसे स्वाभाविक प्रदेश हैं जो रत्न, मणि तथा सुवर्ण से निर्मित हैं। वे सब प्रदेश उत्तमोत्तम नगरों से युक्त हैं। राक्षसों की क्रीड़ाभूमि हैं तथा महाभोगों से युक्त विद्याधरों से सहित हैं। संध्याकार सुबेल, कांचन, ह्लादन, योधन, हंस, हरिसागर और अर्धस्वर्ग आदि अन्य द्वीप भी वहाँ विद्यमान हैं जो समस्त ऋद्धियों तथा भोगों को देने वाले हैं। वन-उपवन आदि से विभूषित हैं तथा स्वर्ण प्रदेशों के समान जान पड़ते हैं।[१]

इस लवणसमुद्र में बहुत से द्वीप हैं जहाँ कल्पवृक्षों के समान आकार वाले वृक्षों से दिशायें व्याप्त हो रही हैं। इन द्वीपों में अनेकों पर्वत हैं जो रत्नों से व्याप्त ऊँचे-ऊँचे शिखरों से सुशोभित हैं। राक्षसों के इन्द्र भीम, अतिभीम तथा उनके सिवाय अन्य देवों के द्वारा आपके वंशजों के लिए ये सब द्वीप और पर्वत दिये गये हैं ऐसा पूर्वपरंपरा से सुनने में आता है। उन द्वीपों में अनेक नगर हैं। उन नगरों के नाम-संध्याकार, मनोह्लाद, सुबेल, कांचन, हरियोधन, जलधिध्वान, हंसद्वीप, भरक्षम, अर्धस्वर्गोत्कट, आवर्त, विघट, रोधन, अमल, कांत, स्फुटतट, रत्नद्वीप, तोयावली, सर, अलंघन, नभोभानु और क्षेम इत्यादि सुन्दर-सुन्दर हैं।

यहाँ वायव्य दिशा में समुद्र के बीच तीन सौ योजन विस्तार वाला, बड़ा भारी वानरद्वीप है। उसमें महा मनोहर हजारों अवांतर द्वीप हैं। उस वानर द्वीप के मध्य में रत्न सुवर्ण की लम्बी, चौड़ी शिलाओं से सुशोभित "किष्कु" नाम का बड़ा भारी पर्वत है। जैसे यह त्रिकूटाचल है वैसे ही वह किष्कु पर्वत है इत्यादि। इस प्रकरण से यह ज्ञात होता है कि इस समुद्र में और भी अनेक द्वीप विद्यमान हैं।[२]

---

१. पद्मपुराण, पर्व ४८ श्लोक १०७ से ११०।

२. पद्मपुराण, पर्व ६, श्लोक ६२ से ८२ तक।

लवणसमुद्र की जगती ८ योजन ऊँची, मूल में १२ योजन, मध्य में ८ एवं ऊपर में ४ योजन प्रमाण विस्तार वाली है। इसके ऊपर वेदिका, वनखंड, देवनगर आदि का पूरा वर्णन जंबूद्वीप की जगती के समान है। इस जगती के अभ्यन्तर भाग में शिलापट्ट और बाह्यभाग में वन हैं। इस जगती की बाह्यपरिधि का प्रमाण १५८११३९ योजन प्रमाण है।[1] यदि जंबूद्वीप प्रमाण १-१ लाख के खंड किये जावें तो इस लवण समुद्र के जंबूद्वीप प्रमाण २४ खण्ड हो जाते हैं।[2]

●

१. तिलोयपण्णत्ति, पृ० ४५९। २. तिलोयपण्णत्ति, पृ० ४६०।

मध्यलोक

एक राजु लम्बा चौड़ा और एक लाख ऊँचा मध्यलोक है। इस मध्यलोक में पच्चीस कोड़ाकोड़ी उद्धार पल्यों के रोमों के प्रमाण द्वीप समुद्रों की संख्या है। अर्थात् सभी द्वीप और समुद्र असंख्यात हैं। ये सब गोलाकार हैं। इनमें से पहले द्वीप का नाम जंबूद्वीप है और अंतिम समुद्र का नाम स्वयंभूरमण समुद्र है। ये सब द्वीप समुद्र एक दूसरे को वेष्टित किये हुए वलयाकार (चूड़ी के समान आकार के) हैं। इनमें से जो पहला द्वीप है वह थाली के समान आकार वाला है।

सभी समुद्र चित्रा पृथ्वी को खंडित कर वज्रा पृथ्वी के ऊपर हैं। अर्थात् एक हजार योजन गहरे हैं और सभी द्वीप चित्रा पृथ्वी के ऊपर स्थित हैं।

प्रथम द्वीप-समुद्र से प्रारम्भ करके सोलह द्वीप और समुद्रों के नाम बताते हैं। सोलह द्वीप समुद्र—

१. जम्बूद्वीप	लवण समुद्र
२. धातकीखण्ड द्वीप	कालोद समुद्र
३. पुष्करवर द्वीप	पुष्करवर समुद्र
४. वारुणीवर द्वीप	वारुणीवर समुद्र
५. क्षीरवर द्वीप	क्षीरवर समुद्र
६. घृतवर द्वीप	घृतवर समुद्र
७. क्षौद्रवर द्वीप	क्षौद्रवर समुद्र
८. नंदीश्वर द्वीप	नंदीश्वर समुद्र
९. अरुणवर द्वीप	अरुणवर समुद्र
१०. अरुणाभास द्वीप	अरुणाभास समुद्र
११. कुण्डलवर द्वीप	कुण्डलवर समुद्र
१२. शंखवर द्वीप	शंखवर समुद्र
१३. रुचकवर द्वीप	रुचकवर समुद्र
१४. भुजगवर द्वीप	भुजगवर समुद्र
१५. कुशवर द्वीप	कुशवर समुद्र
१६. क्रौंचवर द्वीप	क्रौंचवर समुद्र

इस प्रकार सोलह द्वीप और सोलह समुद्रों के नाम बताये हैं। ये सब एक दूसरे को चारों तरफ से घेरे हुए हैं।

द्वीप समुद्रों का प्रमाण

इनमें से जंबूद्वीप का प्रमाण एक लाख योजन[1] है। इसके आगे इस जंबूद्वीप को वेष्टित किये हुए लवण समुद्र का व्यास दो लाख योजन है। ऐसे ही आगे के द्वीप और समुद्र पहले-पहले से दूने-दूने विस्तार वाले हैं।

---

१. यह बड़ा योजन है इसमें २००० कोस माने गये हैं।

इन बत्तीस द्वीप-समुद्रों के आगे होने वाले असंख्यातद्वीप समुद्रों के नाम नहीं लिखे जा सकते हैं। अतः अन्त के भी सोलह द्वीप और सोलह समुद्रों के नाम शास्त्र में बताये गये हैं।

अन्तिम सोलह द्वीप समुद्रों के नाम

इन्हें अन्तिम समुद्र से प्रारम्भ करने पर देखिये—

१. स्वयंभूरमण समुद्र	स्वयंभूरमण द्वीप
२. अहीन्द्रवर समुद्र	अहीन्द्रवर द्वीप
३. देववर समुद्र	देववर द्वीप
४. यक्षवर समुद्र	यक्षवर द्वीप
५. भूतवर समुद्र	भूतवर द्वीप
६. नागवर समुद्र	नागवर द्वीप
७. वैडूर्य समुद्र	वैडूर्य द्वीप
८. वज्रवर समुद्र	वज्रवर द्वीप
९. कांचन समुद्र	कांचन द्वीप
१०. रूप्यवर समुद्र	रूप्यवर द्वीप
११. हिंगुल समुद्र	हिंगुल द्वीप
१२. अंजनवर समुद्र	अंजनवर द्वीप
१३. श्याम समुद्र	श्याम द्वीप
१४. सिंदूर समुद्र	सिंदूर द्वीप
१५. हरिताल समुद्र	हरिताल द्वीप
१६. मनःशिल समुद्र	मनःशिल द्वीप

ये सोलह समुद्र और सोलह द्वीप हैं। अन्त में स्वयंभूरमण द्वीप है। पुनः उसे वेष्टित कर सबसे अन्त में स्वयंभूरमण समुद्र है।

इसलिये सर्वप्रथम तो द्वीप है और अंत में समुद्र है ऐसा समझना।

इन द्वीपों में किस-किस में क्या-क्या है और समुद्रों में से किस-किस का जल कैसा है ? सो ही बताते हैं।

द्वीपों में कहाँ क्या है

प्रथम जंबूद्वीप में, द्वितीय धातकीखण्ड में और तृतीय पुष्करवर द्वीप के आधे भाग में मनुष्यों का आवास है अर्थात् इन ढाई द्वीपों में भोगभूमि और कर्मभूमियों में मनुष्यों का जन्म होता रहता है। पुष्करवर द्वीप के बीचों बीच में चूड़ी के समान आकार वाला गोलाकार मानुषोत्तर पर्वत है। इससे परे मनुष्यों का रहना नहीं है।

इससे आगे आधे पुष्करवर द्वीप में और समस्त असंख्यात द्वीपों में तथा स्वयंभूरमण द्वीप के आधे भाग में तिर्यंचों का निवास है। ये तिर्यञ्च भोगभूमिज हैं। युगल ही उत्पन्न होते हैं, एक पल्य की उत्कृष्ट आयु प्राप्त करते हैं और अन्त में मर कर देवगति को प्राप्त कर लेते हैं। यथा—

"जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड, पुष्करार्ध और स्वयंभूरमण नामक जो चार द्वीप हैं उनको छोड़कर शेष असंख्यात द्वीपों में उत्पन्न हुए जो पंचेन्द्रिय संज्ञी, पर्याप्तक तिर्यंच जीव हैं वे पल्यप्रमाण आयु से युक्त, दो हजार धनुष ऊँचे, सुकुमार कोमल अंगों वाले, मंदकषायी, फल भोजी हैं। ये युगल-युगल उत्पन्न होकर चतुर्थ भक्त से भोजन करते हैं अर्थात् एक दिन छोड़कर भोजन करते हैं। ये सब मरकर नियम से सुरलोक को जाते हैं। उनकी उत्पत्ति सर्वदर्शियों द्वारा अन्यत्र नहीं कही गई है।"[१]

इसके अनन्तर आधे स्वयंभूरमण द्वीप में और स्वयंभूरमण समुद्र में जो तिर्यंच हैं वे कर्मभूमिया कहलाते हैं। अर्थात् स्वयंभूरमण द्वीप में भी बीचों बीच में चूड़ी के समान आकार वाला मानुषोत्तर पर्वत के सदृश एक पर्वत है उसका नाम स्वयंप्रभ पर्वत है। इस पर्वत से इधर-उधर भोगभूमिज तिर्यंच हैं और उसके परे कर्मभूमिज तिर्यंच हैं। भोगभूमिज तिर्यंचों में विकलत्रय जीव (दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय) नहीं होते हैं। ये कर्मभूमि में ही होते हैं।

अकृत्रिम जिन मन्दिर

जम्बूद्वीप से लेकर तेरहवें रुचकवर द्वीप तक ही अकृत्रिम, अनादि निधन जिन मन्दिर हैं आगे नहीं हैं। इन सब मंदिरों का प्रमाण ४५८ है।

समुद्रों में कहाँ कैसा जल है ?

लवण समुद्र, वारुणीवर समुद्र, घृतवर समुद्र और क्षीरवर समुद्र इन चारों का जल अपने नामों के अनुसार है। अर्थात् लवण समुद्र का जल खारा है, वारुणीवर समुद्र का जल मद्य के समान है, घृतवर समुद्र का जल घी के समान है और क्षीरवर समुद्र का जल दूध के समान है। इसी क्षीरवर समुद्र के जल से तीर्थंकरों का जन्माभिषेक होता है।

कालोदधि समुद्र, पुष्करवर समुद्र और स्वयंभूरमण समुद्र इन तीनों का जल जल के सदृश ही स्वाद वाला है।

शेष सभी समुद्रों का जल इक्षुरस (ईख के रस) के समान मधुर है।

लवणसमुद्र, कालोदधि और स्वयंभूरमणसमुद्र में ही जलचर जीव हैं, अन्य किसी समुद्र में नहीं हैं। इस प्रकार से मध्यलोक का अति संक्षिप्त वर्णन किया है। ●

---

१. जम्बूद्वीपपण्णत्ति, ११ वाँ उद्देश।

मनुष्य लोक

त्रसनाली के बहुमध्य भाग में चित्रा पृथ्वी के ऊपर पैंतालीस लाख योजन प्रमाण विस्तार वाला अतिगोल मनुष्य लोक है। इस मनुष्य लोक की ऊँचाई एक लाख योजन है। इसकी परिधि एक करोड़, ब्यालीस लाख, तीस हजार, दो सौ उनन्चास योजन है। (१,४२,३०,२४९ योजन) और इसका क्षेत्रफल एक सौ साठ खरब, ९ अरब, ३ करोड़, एक लाख, पचीस हजार योजन (१६००९ ०३०१२५०००) है।[1]

मनुष्यलोक के द्वीप समुद्र

इस ४५ लाख योजन प्रमाण मनुष्य लोक के बीचों बीच में जम्बूद्वीप है। जो कि एक लाख योजन व्यास वाला, गोलाकार है। इसको चारों तरफ से वेष्टित कर दो लाख योजन विस्तृत चूड़ी सदृश आकार वाला लवण समुद्र है। इसे वेष्टित कर चार लाख योजन विस्तृत धातकी खण्ड है। इसे घेर कर आठ लाख योजन विस्तार वाला कालोद समुद्र है। इसको वेष्टित कर सोलह लाख योजन विस्तृत पुष्करवर द्वीप है। इस द्वीप के ठीक बीच में चूड़ी सदृश आकार वाला एक मानुषोत्तर पर्वत है। इस पर्वत तक ही मनुष्य लोक की सीमा है। इसलिये एक लाख योजन जम्बूद्वीप, दो-दो लाख दोनों तरफ का लवण समुद्र ऐसे चार लाख आदि सभी को जोड़ देने से १ + २ + २ + ४ + ४ + ८ + ८ + ८ + ८ = ४५ लाख योजन प्रमाण यह मनुष्य लोक हो जाता है।

ढाई द्वीप दो समुद्र

इस मनुष्य लोक में एक जम्बूद्वीप, द्वितीय धातकी खण्ड तथा तृतीय पुष्करवर द्वीप का आधा पुष्करार्ध द्वीप ये मिलकर ढाई द्वीप हैं। लवण समुद्र और कालोद समुद्र ये दो समुद्र हैं।

जम्बूद्वीप

एक लाख योजन विस्तृत इस जम्बूद्वीप के ठीक बीच में सुदर्शन मेरु पर्वत है। यह एक लाख चालीस योजन ऊँचा है, इसकी नींव एक हजार योजन है और चूलिका ४० योजन है। इसकी चौड़ाई पृथ्वी पर १० हजार योजन है, घटते हुए अग्रभाग पर ४ योजन मात्र है।

इस जम्बूद्वीप में दक्षिण से लेकर भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं। हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी इन छह पर्वतों से ये सात क्षेत्र विभाजित हैं। इन पर्वतों पर ठीक

---

१. तिलोयपण्णत्ति, महाधिकार ४।

बीच-बीच में क्रम से पद्म, महापद्म, तिगिंच्छ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ये छह सरोवर हैं। इन सरोवरों से १४ महानदियाँ निकलती हैं जो कि दो-दो युगल से सात क्षेत्रों में बहती हैं। उनके नाम हैं—गंगा-सिन्धु, रोहित-रोहितास्या, हरित-हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकान्ता, सुवर्णकूला-रूप्यकूला और रक्ता-रक्तोदा।

भरतक्षेत्र के छह खण्ड

भरत क्षेत्र में ठीक बीच में पूर्व-पश्चिम लम्बा, ५० योजन चौड़ा और २५ योजन ऊँचा, तीन कटनी वाला विजयार्ध पर्वत है। हिमवान् पर्वत से गंगा-सिंधु नदी निकलकर नीचे गिरकर इस विजयार्ध की गुफा से बाहर निकल कर क्षेत्र में बहती हुई पूर्व-पश्चिम की तरफ लवण समुद्र में प्रवेश कर जाती हैं। इससे भरत क्षेत्र के छह खण्ड हो जाते हैं। इसमें से दक्षिण की तरफ के बीच का आर्यखण्ड है और शेष पाँच म्लेच्छ खण्ड हैं। ऐसे ही ऐरावत क्षेत्र में भी छह खण्ड हैं।

इन भरत और ऐरावत के आर्यखण्ड में ही षट्काल परिवर्तन होता है।

विदेह क्षेत्र

विदेह के ठीक बीच में सुदर्शन मेरु होने से उसके पूर्वविदेह-पश्चिम विदेह ऐसे दो भाग हो जाते हैं। सुदर्शन मेरु के दक्षिण में देवकुरु और उत्तर में उत्तरकुरु हैं वहाँ उत्तमभोग भूमि है। सुदर्शन मेरु के चारों विदिशाओं में एक-एक गजदंत हैं जो कि निषध, नील पर्वत को स्पर्श कर रहे हैं। पूर्व-पश्चिम विदेह में सोलह वक्षार और बारह विभंगा नदियों के निमित्त से ३२ देश हो जाते हैं। इन बत्तीसों विदेहों में भी मध्य में विजयार्ध और गंगा-सिंधु नदियों के निमित्त से छह-छह खण्ड हो गये हैं। वहाँ के आर्यखण्ड में सदा ही चतुर्थकाल के प्रारम्भ जैसी कर्मभूमि रहती है। इसीलिए ये बत्तीस शाश्वत कर्मभूमि हैं। वहाँ पर सदा ही तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण और बलभद्र होते रहते हैं। सदा ही केवलियों का, मुनियों का विहार चालू रहता है।

अन्य क्षेत्रों की व्यवस्था

हैमवत और हैरण्यवत में जघन्य भोगभूमि है। वहाँ के मनुष्य युगल ही उत्पन्न होते हैं और साथ ही मरते हैं। इनकी एक पल्य की उत्कृष्ट आयु है और शरीर की ऊँचाई एक कोश है। ये मनुष्य दश प्रकार के कल्पवृक्षों से भोगोपभोग की सामग्री प्राप्त करते हैं। हरि और रम्यक क्षेत्र में मध्यम भोगभूमि है। वहाँ के मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु दो पल्य और शरीर की ऊँचाई दो कोश है। विदेह

में स्थित देवकुरु-उतरकुरु में उत्तम भोगभूमि है। वहाँ के मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य और शरीर की ऊँचाई तीन कोश है। ये छहों भोगभूमियाँ सदाकाल एक सी रहने से शाश्वत भोगभूमि कहलाती हैं।

जम्बू-शाल्मली वृक्ष

उत्तरकुरु में ईशान कोण में पृथ्वीकायिक रत्नमयी जम्बूवृक्ष है और देवकुरु में आग्नेय कोण में शाल्मलीवृक्ष है।

काल परिवर्तन कहाँ-कहाँ

इस प्रकार जम्बूद्वीप में शाश्वत कर्मभूमि ३२, शाश्वत भोगभूमि ६ हैं। वहाँ षट्कालपरिवर्तन नहीं है। भरत ऐरावत के आर्यखण्डों में षट्काल परिवर्तन होता है। अवसर्पिणी उत्सर्पिणी के भेद से काल दो प्रकार है। सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमदु:षमा, दु:षम-सुषमा, दु:षमा और अतिदुषमा ये अवसर्पिणी के भेद हैं। ऐसे अतिदु:षमा से लेकर सुषमासुषमा तक उत्सर्पिणी के भेद हैं। भरत-ऐरावत के आर्यखण्ड में प्रथमकाल में उत्तम भोगभूमि की व्यवस्था है। द्वितीय काल में मध्यम एवं तृतीयकाल में जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था रहती है। चतुर्थकाल में विदेह जैसी कर्मभूमि की व्यवस्था हो जाती है। इस काल में तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि महापुरुष होते हैं, केवलियों के सद्भाव में मोक्ष गमन चालू रहता है। पुन: पंचम काल में तीर्थंकर तथा केवलियों का अभाव होने से धर्म का ह्रास होने लगता है। छठे काल में धर्म, राजा और अग्नि का सर्वथा अभाव हो जाने से मनुष्य पशुवत् जीवन यापन करते हैं और बहुत ही दु:खी घर, वस्त्र आदि से रहित होते हैं। यह काल परिवर्तन भरत ऐरावत के सिवाय अन्यत्र नहीं होता है।[1]

म्लेच्छखण्ड

जम्बूद्वीप के ३२ विदेह के ५-५ म्लेच्छ खण्ड ऐसे (३२ × ५ = १६०) एक सौ साठ म्लेच्छ खण्ड हैं। तथा भरत और ऐरावत के ५-५ म्लेच्छ खण्ड मिलकर १७० म्लेच्छ खण्ड हैं। विदेह के म्लेच्छ खण्डों में सदा चतुर्थ काल के आदि जैसी एवं भरत-ऐरावत के म्लेच्छ खण्डों में चतुर्थकाल के आदि से लेकर अन्त जैसी व्यवस्था रहती है।

विद्याधर श्रेणियाँ

भरत-ऐरावत के विजयार्ध में दक्षिण श्रेणी में ५० और उत्तर श्रेणी में ६० ऐसी ११० नगरियाँ हैं जहाँ पर मनुष्यों का निवास है। ये मनुष्य कर्मभूमिज

---

१. ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिता: ।। तत्त्वार्थसूत्र अ० ३।

हैं। जाति, कुल और मन्त्रों से विद्याओं को प्राप्त कर विद्याधर कहलाते हैं। यहाँ पर तथा भरत-ऐरावत के ५-५ म्लेच्छ खण्डों में चतुर्थकाल को आदि से अन्त तक परिवर्तन होता रहता है। पुनः उत्सर्पिणी में चतुर्थकाल के अन्त से आदि तक व्यवस्था रहती है। ऐसे ही ३२ विदेहों के ३२ विजयार्धों पर दोनों श्रेणियों में ५५-५५ ऐसी ११०-११० नगरियों में विद्याधर मनुष्य रहते हैं। वहाँ पर सदा चतुर्थ काल के आदि जैसी ही व्यवस्था रहती है।

वृषभाचल

पाँच म्लेच्छ खण्डों के मध्य के म्लेच्छ खण्ड में एक वृषभाचल पर्वत है। चक्रवर्ती षट्खण्ड विजय करके इस पर अपनी प्रशस्ति लिखता है। ऐसे ३४ आर्यखण्ड के सदृश ३४ वृषभाचल हैं।

नाभिगिरि

हैमवत, हरि, रम्यक और हैरण्यवत इन चारों क्षेत्रों में ठीक बीच में एक-एक नाभिगिरि पर्वत होने से ४ नाभिगिरि हैं।

अकृत्रिम चैत्यालय

सुदर्शन मेरु के १६ + गजदंत के ४ + जम्बू-शाल्मलि वृक्ष के २ + वक्षार के १६ + विजयार्ध के ३४ + और कुलाचलों के ६ ऐसे = ७८ अकृत्रिम जिन-मन्दिर हैं।

धातकीखण्ड

यह द्वितीय द्वीप चार लाख योजन विस्तृत है। इसके दक्षिण-उत्तर में चार लाख योजन लम्बे, एक हजार योजन चौड़े दो इष्वाकार पर्वत हैं। इनके निमित्त से धातकीखण्ड के पूर्व धातकीखण्ड और पश्चिम धातकीखण्ड ऐसे दो भाग हो गये हैं। दोनों भाग में विजय, अचल नाम के दो सुमेरु पर्वत, भरत, हैमवत आदि सात क्षेत्र, हिमवान् आदि कुलाचल और गंगा आदि महानदियाँ हैं। अतः धातकी खण्ड में प्रत्येक रचना जम्बूद्वीप से दूनी है। अन्तर इतना ही है कि यहाँ पर क्षेत्र आरे के समान आकार वाले हैं। तथा दो इष्वाकार पर्वत के दो जिन मन्दिर अधिक हैं। यहाँ पर जम्बूवृक्ष के स्थान पर धातकी वृक्ष है।

पुष्करार्ध द्वीप

पुष्करार्ध द्वीप में भी दक्षिण और उत्तर में आठ लाख योजन लम्बे दो इष्वाकार पर्वत हैं। बाकी शेष रचना धातकी खण्डवत् है यहाँ पर मेरु के नाम

मन्दरमेरु और विद्युन्माली मेरु हैं। तथा यहाँ के क्षेत्र भी आरे के समान हैं। यहाँ जम्बूवृक्ष के स्थान पर पुष्कर वृक्ष है। जम्बूद्वीप के क्षेत्र पर्वतों की जितनी लम्बाई-चौड़ाई आदि है उनकी अपेक्षा धातकी खण्ड के क्षेत्रादि की अधिक है तथा पुष्करार्ध के क्षेत्रादि की उनसे भी अधिक है। जैसे जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र का विष्कम्भ ५२६,६/१९ योजन है। धातकी खण्ड के भरत क्षेत्र का बाह्य विष्कम्भ १८५४७,१५५/२१२ योजन है। पुष्करार्ध के भरत क्षेत्र का बाह्य विष्कम्भ ६५४४६,१३/२१२ योजन है।

कुभोगभूमि

लवण समुद्र के अभ्यन्तर तट पर २४ और बाह्य तट पर भी २४ द्वीप हैं। इसी तरह कालोद समुद्र के अभ्यन्तर और बाह्य दोनों तट सम्बन्धी २४, २४ द्वीप हैं। कुल मिलाकर २४ + २४ + २४ + २४ = ९६ कुमानुष द्वीप हैं। ये सभी द्वीप जल से एक योजन ऊपर हैं।

इनमें जन्म लेने वाले मनुष्य एक जंघा वाले, पूँछ वाले, सींगवाले आदि विकृत आकार के होते हैं।

दिशागत द्वीपों के मनुष्य गुफाओं में निवास करते हैं और वहाँ की अत्यन्त मीठी मिट्टी का भोजन करते हैं। विदिशागत आदि शेष द्वीपों के मनुष्य वृक्षों के नीचे निवास करते हैं और कल्पवृक्षों से प्रदत्त फलों का भोजन करते हैं। यहाँ पर युगलिया स्त्री-पुरुष जन्म लेते हैं और एक पल्य की आयु को भोगकर युगल ही मरण करते हैं। यहाँ की सारी व्यवस्था जघन्य भोगभूमि सदृश है। इन मनुष्यों के जो कान और मुख के आकार पशु आदि के सदृश बताये हैं उनसे अतिरिक्त शेष सभी शरीर का आकार मनुष्य सदृश ही है। इसीलिए ये कुमानुष कहलाते हैं। यहाँ कर्मभूमि में कोई भी जीव कुत्सित पुण्य संचित करके कुमानुष योनि में जन्म ले लेते हैं।[1]

इस प्रकार से ढाई द्वीप और दो समुद्र में भोगभूमि, कुभोगभूमि तथा आर्यखण्ड और म्लेच्छखण्ड तथा विद्याधर श्रेणी की अपेक्षा मनुष्यों के निवास स्थान पाँच प्रकार के हो गये हैं। जम्बूद्वीप में जितनी रचना है संख्या में उसकी अपेक्षा दूनी रचना धातकी खण्ड में तथा वैसी ही पुष्करार्ध में है। जैसे कि जम्बूद्वीप में भोगभूमि ६ हैं, तो धातकी खण्ड में १२ इत्यादि। सबका स्पष्टीकरण शाश्वत भोगभूमि ६ × ५ = ३० (हैमवत्, हरि, देवकुरु, उत्तरकुरु, रम्यक, हैरण्यवत) शाश्वत कर्म भूमि ३२ × ५ = १६० (विदेह सम्बन्धी)।

---

१. त्रिलोकसार गाथा ९१३ से ९२१ तक।

अशाश्वत भोगभूमि	१०	(५ भरत ५ ऐरावत के आर्यखण्ड में षट्कालपरिवर्तन के ३-३ काल में)।
अशाश्वत कर्म भूमि	१०	(५ भरत ५ ऐरावत के आर्यखण्ड के छहकाल परिवर्तन में ३-३ काल में)।
आर्यखण्ड	१७०	(विदेह १६० + भरत ५ + ऐरावत ५ = १७०)।
म्लेच्छ खण्ड	८५०	(यहाँ के मनुष्य क्षेत्र से म्लेच्छ हैं कुछ मनुष्य जाति और क्रिया से नहीं भी हैं)।
विद्याधर श्रेणी	२४०	(यहाँ के मनुष्य आकाशगामी आदि विद्या से सहित होते हैं।
कुभोगभूमि	९६	(लवण समुद्र की ४८ + कालोद समुद्र की ४८ = ९६)।

ढाई द्वीप के मुख्य-मुख्य पर्वत

१. सुमेरु पर्वत	५	२. जम्बू शाल्मली आदिवृक्ष	१०
३. गजदंत	२०	४. कुलाचल (हिमवान आदि)	३०
५. वक्षार	८०	६. विजयार्ध	१७०
७. वृषभाचल	१७०	८. इष्वाकार	४
९. नाभिगिरि	२०		

अकृत्रिम चैत्यालय ३९८ हैं (ढाई द्वीप सम्बन्धी)

१. पाँच सुमेरु के	८०	२. जम्बू आदि दशवृक्ष के	१०
३. बीस गजदंत के	२०	४. तीस कुलाचल के	३०
५. अस्सी वक्षार के	८०	६. एक सौ सत्तर विजयार्ध के	१७०
७. चार इष्वाकार के	४	८. मानुषोत्तर पर्वत की चार दिशा के	४

कुल ८० + १० + २० + ३० + ८० + १७० + ४ + ४ = ३९८, इन्हीं में नंदीश्वर द्वीप के ५२, कुंडलगिरि के ४ और रुचकगिरि के ४ चैत्यालय मिला देने से मध्यलोक के सर्व जिनचैत्यालय ४५८ हो जाते हैं। इनको मेरा शिर झुका कर नमस्कार होवे।

●

नंदीश्वर द्वीप

जम्बूद्वीप से आठवाँ द्वीप नंदीश्वरद्वीप है। यह नंदीश्वर समुद्र से वेष्टित है। इस द्वीप का मण्डलाकार से विस्तार एक सौ तिरेसठ करोड़ चौरासी लाख योजन है। इस द्वीप में पूर्व दिशा में ठीक बीचों-बीच अञ्जनगिरि नाम का एक पर्वत है। यह ८४००० योजन विस्तृत और इतना ही ऊँचा समवृत्त-गोल है तथा इन्द्रनील मणि से निर्मित है। इस पर्वत के चारों ओर चार दिशाओं में चार द्रह हैं, इन्हें बावड़ी भी कहते हैं। ये द्रह एक लाख योजन विस्तृत चौकोन हैं। इनकी गहराई एक हजार योजन है। इनमें स्वच्छ जल भरा हुआ है, ये जलचर जीवों से रहित हैं। इनमें एक हजार उत्सेध योजन प्रमाण विस्तृत कमल खिल रहे हैं। इन वापियों के नाम दिशा क्रम से नन्दा, नन्दावती, नन्दोत्तरा और नन्दिघोषा हैं। इन वापियों के चारों तरफ चार वन-उद्यान हैं जो कि एक लाख योजन लम्बे और पचास हजार योजन चौड़े हैं। ये पूर्व आदि दिशाओं में क्रम से अशोक, सप्तच्छद, चंपक और आम्रवन हैं। इनमें से प्रत्येक वन में वन के नाम से सहित चैत्यवृक्ष हैं। प्रत्येक वापिका के बहु मध्य भाग में दही के समान वर्ण वाले दधिमुख नाम के उत्तम पर्वत हैं। ये पर्वत दश हजार योजन ऊँचे तथा इतने ही योजन विस्तृत गोल हैं। वापियों के दोनों बाह्य कोनों पर रतिकर नाम के पर्वत हैं। जो कि सुवर्णमय हैं, एक हजार योजन विस्तृत एवं इतने ही योजन ऊँचे हैं।

इस प्रकार पूर्व दिशा सम्बन्धी एक अञ्जनगिरि, चार दधिमुख और आठ रतिकर ऐसे तेरह पर्वत हैं। इन पर्वतों के शिखर पर उत्तम रत्नमय एक-एक जिनेन्द्र मन्दिर स्थित हैं।

जैसे यह पूर्व दिशा के तेरह पर्वतों का वर्णन किया है, वैसे ही दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर में भी तेरह-तेरह पर्वत हैं। उन पर भी एक-एक जिनमन्दिर हैं। इस तरह कुल मिलाकर १३ + १३ + १३ + १३ = ५२ जिनमन्दिर हैं।

जैसे पूर्व दिशा में चार वापियों के क्रम से नंदा आदि नाम हैं। वैसे ही दक्षिण दिशा में अंजनगिरि के चारों ओर जो चार वापियाँ हैं उनके पूर्वादि क्रम से अरजा, विरजा, अशोका और वीतशोका ये नाम हैं। पश्चिम दिशा के अंजनगिरि की चारों दिशाओं में क्रम से विजया, वैजयन्ती, जयन्ती और अपराजिता ये नाम हैं तथा उत्तर दिशा के अंजनगिरि की चारों दिशागत वापियों के रम्या, रमणीया, सुप्रभा और सर्वतोभद्रा नाम हैं।

चौंसठ वन

इन सोलह वापिकाओं के प्रत्येक के चार-चार वन होने से १६ × ४ = ६४ वन हैं। प्रत्येक वन में सुवर्ण तथा रत्नमय एक-एक प्रासाद हैं। उन पर ध्वजायें

फहरा रही हैं। इन प्रासादों की ऊँचाई बासठ योजन और विस्तार इकतीस योजन है तथा लम्बाई भी इकतीस योजन ही है। इन प्रासादों में उत्तम-उत्तम वेदिकायें और गोपुर द्वार हैं। इनमें वन खण्डों के नामों से युक्त व्यंतर देव अपने बहुत से परिवार के साथ रहते हैं।

बावन जिन मन्दिर

इस प्रकार नंदीश्वर द्वीप में ४ अंजनगिरि, १६ दधिमुख और ३२ रतिकर ये ५२ जिन मन्दिर हैं। प्रत्येक जिन मन्दिर उत्सेध योजन से १०० योजन लम्बे, ५० योजन चौड़े और ७५ योजन ऊँचे हैं। प्रत्येक जिन मन्दिर में १०८, १०८ गर्भगृह हैं और प्रत्येक गर्भगृह में ५०० धनुष ऊँची पद्मासन जिन प्रतिमायें विराजमान हैं। इन मन्दिरों में नाना प्रकार के मंगलघट, धूपघट, सुवर्णमालायें, मणिमालायें, अष्ट मंगलद्रव्य आदि शोभायमान हैं।

इन मन्दिरों में देवगण जल, गंध, पुष्प, तंदुल, उत्तम नैवेद्य, फल, दीप और धूपादि द्रव्यों से जिनेन्द्र प्रतिमाओं की स्तुतिपूर्वक पूजा करते हैं।

ज्योतिषी, वानव्यंतर, भवनवासी और कल्पवासी देवों की देवियाँ इन जिन भवनों में भक्तिपूर्वक नाचती और गाती हैं। बहुत से देवगण भेरी, मर्दल और घण्टा अनेक प्रकार के दिव्य बाजों को बजाते रहते हैं।

आष्टाह्निक पर्व पूजा

इस नंदीश्वर द्वीप में प्रत्येक वर्ष आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुन मास में शुक्लपक्ष की अष्टमी से लेकर पूर्णिमा तक चारों प्रकार के देवगण आते हैं और भक्ति से अखण्ड पूजा करते हैं।

उस समय दिव्य विभूति से विभूषित सौधर्म इन्द्र हाथ में श्रीफल नारियल को लेकर भक्ति से ऐरावत हाथी पर चढ़कर आता है।

उत्तम रत्नाभरणों से विभूषित ईशान इन्द्र भी उत्तम हाथी पर चढ़कर हाथ में सुपाड़ी फलों के गुच्छे को लिए हुए भक्ति से वहाँ पहुँचता है।

कुण्डलों से विभूषित और हाथ में आम्रफलों के गुच्छे को लिए हुए सनत्कुमार इन्द्र भी भक्ति से युक्त होता हुआ उत्तम सिंह पर चढ़कर यहाँ आता है।

विविध प्रकार की शोभा को प्राप्त माहेन्द्र भी श्रेष्ठ घोड़े पर चढ़कर हाथ में केलों को लिए हुए भक्ति से यहाँ आता है।

धवल हंस पर आरूढ़, निर्मल शरीर से सुशोभित और भक्ति से युक्त ब्रह्मेन्द्र उत्तम केतकी पुष्प को हाथ में लेकर आता है।

उत्तम चँवर एवं विविध छत्र से सुशोभित और फूले हुए कमल को हाथ में लिए हुए ब्रह्मोत्तर इन्द्र भो क्रौंच पक्षी पर आरूढ़ होकर यहाँ आता है।

कुण्डल एवं केयूर आदि आभरणों से देदीप्यमान और भक्ति से भरित शुक्रेंद्र उत्तम चक्रवाक पक्षी पर आरूढ़ होकर सेवन्ती पुष्प को हाथ में लिए हुए यहाँ आता है।

दिव्य विभूति से विभूषित, उत्तम एवं विविध प्रकार के फूलों की माला को हाथ में लिए हुए महाशुकेन्द्र भी तोता पक्षी पर चढ़कर भक्तिवश यहाँ आता है।

कोयल वाहन रूप विमान पर आरूढ़ होकर, उत्तमरत्नों से अलंकृत, शतार इन्द्र नील कमल को हाथ में लेकर भक्ति से प्रेरित हुआ यहाँ आता है।

गरुड़ विमान पर आरूढ़ होकर सहस्रार इन्द्र भी अनार फलों के गुच्छों को हाथ में लेकर जिन चरणों की भक्ति में अनुरक्त हुआ यहां आता है।

विहगाधिप (गरुड़पक्षी) पर आरूढ़ होकर पनस फल के गुच्छे को हाथ में लिए हुए आनतेंद्र भी उत्तम दिव्य विभूति के साथ यहां आता है।

उत्तम आभरणों से मण्डित और तुम्बरु फल के गुच्छे को हाथ में लिए हुए प्राणतेंद्र भी भक्तिवश पद्म विमान पर आरूढ़ होकर यहां आता है।

पके हुए गन्ने को हाथ में लेकर और विचित्र कुमुद विमान पर चढ़कर आरणेंद्र भी विविध अलंकारों से अलंकृत हुआ यहां आता है।

कटक, अंगद, मुकुट एवं हार से संयुक्त और चन्द्रमा के समान धवल चँवर हाथ में लिए हुए अच्युतेंद्र उत्तम मयूर वाहन पर चढ़कर यहाँ आता है।[१]

---

१. एरावणमारूढो दिव्वविभूदीए भूसिदो रम्मो।
णालियरपुण्णपाणी सोहम्मी एदि भत्तीए ॥८४॥
वरवारणमारूढो वररयणविभूसणेहिं सोहंतो।
पूगफलगोच्छहत्थो ईसाणिंदो वि भत्तीए ॥८५॥
वरकेसरिमारूढो णवरविसारिच्छकुंडलाभरणो।
चूदफलगोच्छहत्थो सणक्कुमारो वि भत्तिजुदो ॥८६॥
आरूढो वरतुरयं वरभूषणभूसिदो विविध सोहो।
कदलीफलसहहत्थो माहिंदो एदि भत्तीए ॥८७॥
हंसम्मि चंदधवले आरूढो विमलदेह सोहिल्लो।
वरकेई कुसुमकरो भत्तिजुदो एदि बम्हिंदो ॥८८॥
कोंचविहंगारूढो वरचामरविविहछत्त सोहिल्लो।
पप्फुल्लकमलहत्थो एदि हु बह्मुत्तरिंदो वि ॥८९॥
वरचक्का आरूढो कुंडल केयूरपहुदिदिप्पंतो।
सयवंतियकुसुमकरो सुक्किंदो भत्ति भरिदमणो ॥९०॥

[ये नाना प्रकार के मयूर, कोयल, तोता आदि वाहन बताये हैं वे सब आभियोग्य जाति के देव उस प्रकार के वाहन का रूप बना लेते हैं चूँकि वहां पशु-पक्षी नहीं हैं ।]

नाना प्रकार की विभूति से सहित, अनेक फल व पुष्पमालाओं को हाथों में लिए हुए और अनेक प्रकार के वाहनों पर आरूढ़ ज्योतिषी, व्यंतर एवं भवनवासी देव भी भक्ति से संयुक्त होकर यहां आते हैं।

इस प्रकार ये चारों निकाय के देव नंदीश्वरद्वीप के दिव्य जिन मंदिरों में आकर नाना प्रकार की स्तुतियों से दिशाओं को मुखरित करते हुए प्रदक्षिणायें करते हैं।

चतुर्णिकाय देवों की पूजा का क्रम

पूर्वाह्न में दो प्रहर तक भक्ति से युक्त कल्पवासी देव पूर्व दिशा में, भवनवासी दक्षिण में, व्यंतर देव पश्चिम दिशा में और ज्योतिषी देव उत्तर दिशा में पूजा करते हैं। पुनः अपराह्न में दो प्रहर तक कल्पवासी देव दक्षिण में, भवनवासी पश्चिम में, व्यंतरवासी उत्तर में और ज्योतिषी पूर्व में पूजा करते हैं। अनन्तर पूर्व रात्रि में दो प्रहर तक कल्पवासी पश्चिम में, भवनवासी उत्तर में, व्यंतर पूर्व में और ज्योतिषी दक्षिण में पूजा करते हैं। तत्पश्चात् पश्चिम

कीरविहंगारूढो महसुक्किंदो वि एदि भत्तीए।
दिव्वविभूदिविभूसिददेहो वरविविहकुसुमदामकरो ॥९१॥
णीलुप्पलकुसुमकरो कोइलवाहणविमाणमारूढो।
वररयणभूसिदंगो सदरिंदो एदि भत्तीए ॥९२॥
गरुडविमाणारूढो दाडिमफललुंबि सोहमाणकरो।
जिणचलणभत्तिरत्तो एदि सहस्सार इंदो वि ॥९३॥
विहगाहिवमारूढो पणसफललुंबिमाणकरो।
वरदिव्वविभूदीए आगच्छदि आणदिंदो वि ॥९४॥
पउमविमाणारूढो पाणदइंदो वि एदि भत्तीए।
तुंबरुफललुंबिकरो वरमंडणमंडियायारो ॥९५॥
परिपक्कउच्छहत्थो कुमुदविमाणं विचित्तमारूढो।
विविहालंकारधरो आगच्छदि आरणिंदो वि ॥९६॥
आरूढो वरमोरं वलयंगदमउडहारसंजुत्तो।
ससिधवलचमरहत्थो आगच्छदि अच्चुदाहिवई ॥९७॥

—तिलोयपण्णत्ति, अधिकार ५।

रात्रि में दो प्रहर तक कल्पवासी उत्तर में, भवनवासी पूर्व में, व्यंतर दक्षिण में और ज्योतिषी पश्चिम में पूजा करते हैं। इस प्रकार ये चारों निकाय के देव अष्टमी से पूर्णिमा तक पूर्वाह्न, अपराह्न, पूर्वरात्रि और पश्चिम-रात्रि में दो-दो प्रहर तक उत्तम भक्ति पूर्वक प्रदक्षिण क्रम से अपनी-अपनी विभूति के योग्य जिनेंद्र प्रतिमाओं की विविध प्रकार से पूजा करते हैं। [वहां के सूर्य-चन्द्रमा अपने-अपने स्थान पर स्थिर हैं अतः वहां रात-दिन का विभाग नहीं है।]

पूजाविधि

सभी देवेन्द्र आदि मिलकर उन अकृत्रिम जिन प्रतिमाओं का विधिवत् अभि-षेक करते हैं। पुनः जल, चंदन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फलों से अष्टविध अर्चा करते हैं।

वे देवगण अनेक प्रकार के चंदोवा आदि को बांधकर भी भक्ति से जिनेश्वर अर्चा करते हैं। इन चंदोवों में हार, चँवर और किंकणिओं को लटकाते हैं। इस प्रकार चंदोवा, छत्र, चँवर, घंटा आदि से मन्दिर को सजाते हैं। ये सभी देवगण पूजा के समय मर्दल, भेरी, मृदंग, पटह आदि बहुत प्रकार के बाजे भी बजाते हैं।

वहां दिव्य वस्त्राभरणों से सुसज्जित देवकन्यायें विविध प्रकार के नृत्य करती हैं और अन्त में जिनेंद्र भगवान् के चरित्रों का अभिनय करती हैं। सभी देवगण भी मिलकर बहुत प्रकार के रस और भावों से युक्त जिनेन्द्र देव के चरित्र सम्बन्धी नाटक को करते हैं।

इस प्रकार नंदीश्वर द्वीप और नंदीश्वर पर्व की पूजा का वर्णन हुआ है। यह द्वीप मानुषोत्तर पर्वत से परे है अतः यहां मनुष्य नहीं जा सकते हैं केवल देवगण ही वहां जाकर पूजा करते हैं। वहां विद्याधर मनुष्य और चारणऋद्धि-धारी मुनीश्वर गण भी नहीं जा सकते हैं अतः इन पर्वों में यहां भावों से ही पूजा कर भव्यजन पुण्य संचय किया करते हैं।

कुंडलवरद्वीप-रुचकवर द्वीप

कुंडलवर नाम से यह ग्यारहवां द्वीप है इसके ठीक बीच में चूड़ी के समान आकारवाला एक कुण्डलवर पर्वत है। इस पर्वत पर चारों दिशाओं में एक-एक जिनमन्दिर हैं। अतः वहां चार जिन मन्दिर हैं। ऐसे तेरहवां द्वीप रुचकवर नाम का है। वहां पर भी ठीक बीच में चूड़ी के समान आकारवाला एक रुचकवर पर्वत है। उस पर भी चारों दिशाओं में एक-एक जिन मन्दिर होने से वहां के भी

जिन मन्दिर चार हैं। इस प्रकार मानुषोत्तर पर्वत से बाहर में नंदीश्वर के ५२ + कुण्डलवर के ४ + रुचकवर के ४ ऐसे = ६० जिन मन्दिर हैं। तथा मनुष्यलोक के मानुषोत्तर पर्वत तक ३९८ जिनमन्दिर हैं। ये सब ३९८ + ६० = ४५८ अकृत्रिम, अनादि निधन जिनमन्दिर हैं। इस तेरहवें द्वीप से आगे असंख्यात द्वीप समुद्रों में अन्यत्र कहीं भी स्वतन्त्र रूप से अकृत्रिम जिन मन्दिर नहीं हैं। हां, सर्वत्र व्यंतर देव और ज्योतिषी देवों के घरों में अकृत्रिम जिन मन्दिर अवश्य हैं, वे सब गणनातीत हैं। इन सब जिन मन्दिरों को मेरा नमस्कार होवे।

तीन लोक

स ज्ञ भगवान् से अवलोकित अनंतानंत अलोकाकाश के बहुमध्य भाग में ३४३ राजू प्रमाण पुरुषाकार लोकाकाश है। यह लोकाकाश जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल इन पाँचों द्रव्यों से व्याप्त है। आदि और अन्त से रहित-अनादि अनंत है, स्वभाव से ही उत्पन्न हुआ है। छह द्रव्यों से सहित यह लोकाकाश स्थान निश्चय ही स्वयं प्रधान है। इसकी सब दिशाओं में नियम से अलोकाकाश स्थित है।

इस लोक के ३ भेद हैं—अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक।

अधोलोक का आकार स्वभाव से वेत्रासन के सदृश, मध्यलोक का आकार खड़े किये हुए मृदंग के ऊपरी भाग के समान एवं ऊर्ध्वलोक का आकार खड़े किये हुए मृदंग के सदृश है।

सम्पूर्ण लोक की ऊँचाई १४ राजू प्रमाण है एवं मोटाई सर्वत्र ७ राजू है।

तीन लोक के जड़ भाग से लोक की ऊँचाई का प्रमाण

अधोलोक की ऊँचाई ७ राजू, मध्यलोक की ऊँचाई एक लाख ४० योजन एवं ऊर्ध्वलोक की ऊँचाई ७ राजू प्रमाण है। असंख्यातों योजनों का एक राजू होता है। १४ राजू ऊँचे लोक में, ७ राजू में नरक एवं ७ राजू में स्वर्ग हैं, इन दोनों के मध्य में एक लाख ४० योजन ऊँचा सुमेरु पर्वत है, बस इसी सुमेरु प्रमाण ऊँचाई वाला मध्य लोक है जो कि ऊर्ध्वलोक का कुछ भाग है और वह राजू में ना कुछ के समान है। अतएव ऊँचाई के वर्णन में ७ राजू में अधोलोक एवं सात राजू में ऊर्ध्वलोक कहा गया है।

लोक की चौड़ाई का प्रमाण

नरक के तलभाग में चौड़ाई ७ राजू है। घटते-घटते यह चौड़ाई मध्यलोक में एक राजू रह गई है। पुनः मध्यलोक से ऊपर बढ़ते-बढ़ते ब्रह्म लोक—पाँचवें स्वर्ग तक चौड़ाई ५ राजू हो गई है। पाँचवें ब्रह्म स्वर्ग से आगे घटते-घटते सिद्ध-शिला तक चौड़ाई पुनः एक राजू रह गई है।

त्रस नाली का प्रमाण

तीनों लोकों के बीचों-बीच में एक राजू चौड़ी एक एक राजू मोटी तथा कुछ कम १३ राजू ऊँची त्रसनाली है। इस त्रसनाली में ही त्रस जीव पाये जाते हैं।

अधोलोक के राजू का वर्णन

मृदंगाकार अधोलोक में रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूम-प्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा ये सात पृथ्वियाँ हैं, जो कि कुछ कम एक-एक

राजू के अन्तराल से हैं अर्थात् इन पृथ्वियों की मोटाई क्रम से एक लाख ८० हजार योजन, ३२ हजार योजन, २८ हजार योजन, २४००० योजन, २०००० योजन, १६००० और ८००० योजन है। मध्य लोक के अधोभाग से लेकर पहला राजू शर्करा पृथ्वी के अधोभाग में पूर्ण होता है। अर्थात् एक राजू में रत्नप्रभा और शर्करा प्रभा ये दोनों ही पृथ्वी हैं। इसके आगे दूसरा राजू प्रारम्भ होकर बालुकाप्रभा के अधोभाग में पूर्ण होता है। तीसरा राजू पंकप्रभा पृथ्वी के अधोभाग में समाप्त होता है। इसके अनन्तर चौथा राजू धूमप्रभा के अधोभाग में, पाँचवाँ राजू तमःप्रभा के अधोभाग में, छठा राजू महातमःप्रभा के अन्त में एवं सातवां राजू अधोलोक के तल भाग में समाप्त होता है। मतलब यह है कि एक राजू में २ नरक, ५ राजू में पांच नरक, ऐसे ६ राजू में ७ नरक एवं एक राजू में निगोद भाग स्थित है—ऐसा समझना चाहिये।

अधोलोक से मध्यलोक तक की चौड़ाई घटने का क्रम

अधोलोक के तल भाग में			७ राजू
सातवीं पृथ्वी के निकट			$६\frac{१}{७}$ राजू
छठी पृथ्वी के निकट			$५\frac{२}{७}$ राजू
पांचवीं	,,	,,	$४\frac{३}{७}$ राजू
चौथी	,,	,,	$३\frac{४}{७}$ राजू
तीसरी	,,	,,	$२\frac{५}{७}$ राजू
दूसरी	,,	,,	$१\frac{६}{७}$ राजू
प्रथम	,,	,,	एक राजू मात्र

सम्पूर्ण मध्यलोक की चौड़ाई एक राजू मात्र ही है।

ऊर्ध्वलोक में राजू के प्रमाण का वर्णन

मध्यलोक के ऊपरी भाग से सौधर्म विमान के ध्वजदण्ड तक एक लाख ४० योजन कम $१\frac{१}{२}$ राजू प्रमाण ऊँचाई है। इसके आगे माहेन्द्र और सानत्कुमार के ऊपरी भाग तक $१\frac{१}{२}$ राजू पूर्ण होता है। अनन्तर ब्रह्मोत्तर के ऊपरी भाग में $\frac{१}{२}$ राजू, कापिष्ठ के ऊपरी भाग में $\frac{१}{२}$ राजू, महाशुक्र के ऊपरी भाग में $\frac{१}{२}$ राजू एवं सहस्रार के ऊपरी भाग में $\frac{१}{२}$ राजू, आनत के ऊपरी भाग में $\frac{१}{२}$ राजू, आरण के ऊपरी भाग में $\frac{१}{२}$ राजू समाप्त होता है। पुनः एक राजू की ऊँचाई में ९ ग्रैवेयक, ९ अनुदिश, ५ अनुत्तर एवं सिद्धशिला है।

$$१\frac{१}{२} + १\frac{१}{२} + \frac{१}{२} + \frac{१}{२} + \frac{१}{२} + \frac{१}{२} + \frac{१}{२} + \frac{१}{२} + १ = ७ \text{ राजू}$$

प्रथम स्वर्ग से सिद्धशिला तक लोक की चौड़ाई बढ़ने-घटने का क्रम

मध्यलोक में			एक राजू
सौधर्म, ईशान स्वर्ग के अन्त में चौड़ाई			२$\frac{5}{7}$ राजू
सानत्कुमार, माहेन्द्र	,,	,,	४$\frac{3}{7}$ राजू
ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर	,,	,,	५ राजू
लांतव, कापिष्ठ	,,	,,	४$\frac{3}{7}$ राजू
शुक्र, महाशुक्र	,,	,,	३$\frac{6}{7}$ राजू
सतार, सहस्रार	,,	,,	३$\frac{2}{7}$ राजू
आनत, प्राणत	,,	,,	२$\frac{5}{7}$ राजू
आरण, अच्युत	,,	,,	२$\frac{1}{7}$ राजू
९ ग्रैवेयक, ९ अनुदिश, ५ अंगुत्तर एवं सिद्धशिलात्मक चौड़ाई			१ राजू

अपने-अपने अन्तिम इन्द्रक विमान सम्बन्धी ध्वज दण्ड के अग्रभाग तक उन-उन स्वर्गों का अन्त समझना चाहिए और लोक का जो अन्त है वही कल्पातीत भूमि का भी अन्त है।

जैन सिद्धान्त में ८ पृथ्वी मानी गयी हैं। ७ नरक की ७ पृथ्वी एवं एक ईषत्प्राग्भार नाम की मोक्ष-पृथ्वी—ऐसे पृथ्वी के ८ भेद हैं।

वातवलयों का वर्णन

इस लोकाकाश को चारों तरफ से वेष्टित करके तीन वातवलय हैं। ये वायुकायिक जीवों के शरीर स्वरूप हैं। यद्यपि वायु अस्थिर स्वभाव वाली है फिर भी ये तीनों वातवलय स्थिर स्वभाव वाले वायुमण्डल हैं। इनके १. घनोदधिवातवलय, २. घनवातवलय एवं ३. तनुवातवलय ये तीन भेद हैं।

घनोदधिवात गोमूत्र वर्ण वाला है, घनवात मूंग के समान वर्णवाला एवं तनुवात अनेक वर्ण वाला है। चारों तरफ से लोक को वेष्टित करके प्रथम घनोदधिवातवलय स्थित है। इस घनोदधि को वेष्टित करके घनवात एवं घनवात को वेष्टित करके तनुवातवलय स्थित है। तनुवातवलय के चारों तरफ अनन्त अलोकाकाश है।

आठ पृथ्वियों के नीचे तलभाग में एक राजू की ऊँचाई तक इन तीनों वायुमण्डलों में से प्रत्येक की मोटाई बीस हजार योजन प्रमाण है। सातवें नरक में पृथ्वी के पार्श्व भाग में क्रम से इन तीनों वातवलयों की मोटाई सात, पाँच और चार योजन है। इसके ऊपर मध्यलोक के पार्श्व भाग में पाँच, चार और तीन योजन प्रमाण है। इसके आगे तीनों वायु की मोटाई ब्रह्मस्वर्ग के पार्श्व

भाग में क्रम से ७, ५ और ४ योजन है तथा ऊर्ध्व लोक के अन्त में—पार्श्व भाग में ५, ४ व ३ योजन प्रमाण है। लोक शिखर के ऊपर तीनों वातवलयों की मोटाई क्रमशः २ कोस, एक कोस और कुछ कम एक कोस प्रमाण है।

लोक का घनफल

यह लोक तल भाग में ७ राजू, मध्य में एक, पाँचवें स्वर्ग में ५, और अन्त में एक राजू है। इन चारों स्थानों की चौड़ाई को जोड़ देने से ७+१+५+१ =१४ राजू हुए। इस १४ में ४ का भाग देने से १४÷४=३$\frac{1}{2}$ राजू हुए। इसमें लोक के दक्षिण-उत्तर की मोटाई का गुणा कर देने से ३$\frac{1}{2}$×७=२४$\frac{1}{2}$ हुए। फिर इस चौड़ाई और मोटाई के गुणनफल में १४ राजू का गुणा कर देने से २४$\frac{1}{2}$×१४=३४३ राजू हुए। इस लोकाकाश का घनफल ३४३ राज प्रमाण है।

मध्यलोक

यह मध्य में एक राजू चौड़ा है। चित्रा पृथ्वी से लेकर अर्थात् सुमेरु के जड़ से लेकर स्वर्ग के ऋतु विमान के नीचे तक १ लाख ४० योजन ऊँचा है। इसी में असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं। जो कि एक दूसरे को वेष्टित किये हुए हैं। सर्व प्रथम द्वीप का नाम जम्बूद्वीप और अन्तिम समुद्र का नाम स्वयंभूरमण समुद्र है। इस प्रकार संक्षेप से तीन का स्वरूप कहा है।

जंबूद्वीप के पर्वतों का आकार

(गणितीय पक्ष से)

सुमेरु पर्वत

महाविदेह क्षेत्र के बहुमध्य भाग में सब तीर्थंकरों के जन्माभिषेक का आसन-रूप मंदर नामक महापर्वत है। यह १००० योजन गहरा (नींव सहित), ९९००० योजन ऊँचा और नींव के तल भाग में १००९०$\frac{10}{11}$ योजन विस्तार वाला है। पृथ्वीतल पर इसका विस्तार १०००० योजन है। और अंत में ९९००० योजन की ऊँचाई पर १००० योजन मात्र रह गया है।

यह मेरु पर्वत क्रम से हानिरूप होता हुआ पृथिवी से (भद्रसालवन से) ५०० योजन ऊपर जाकर उस स्थान में युगपत् (चारों ओर) ५०० योजन प्रमाण संकुचित हो गया। अर्थात् यह ५०० योजन की कटनी है इसी का नाम नंदनवन है। इसके ऊपर ११००० योजन तक समान विस्तार है। पुनः क्रम से हानिरूप होते हुए ५१५०० योजन ऊपर जाकर सब ओर से युगपत् ५०० योजन संकुचित हो गया है। अर्थात् यह भी ५०० योजन की कटनी है इसका नाम सौमनस वन है। इसके आगे ११००० योजन तक उसका समान विस्तार है। फिर ऊपर क्रम से हानिरूप होते हुए २५००० योजन जाने पर ४९४ योजन प्रमाण संकुचित हो गया है। अर्थात् यह चारों ओर से ४९४ योजन की कटनी है इसका नाम पांडुक वन है।

ठीक बीच में इसकी चूलिका १२ योजन विस्तृत है और ४० योजन ऊँची है।

इस प्रकार यह पर्वत एक लाख योजन ऊँचा है यथा १०००+५००+११०००+५१५००+११०००+२५००० = १००००० योजन, और इसकी चूलिका ४० योजन ऊँची है। पांडुक वन में १२ यो० विस्तृत है। क्रम से घटते हुए अग्र भाग में ४ योजन मात्र रह गई है।

सुमेरु के घटने का क्रम

सुमेरु के विस्तार में मूल से ऊपर ११ प्रदेशों पर १ प्रदेश की हानि हुई है। इसी प्रकार पाद, हस्त, अंगुल और कोश आदि की ऊँचाई पर भी स्वयं जानना चाहिए।[1]

मेरु पर्वत की ऊँचाई ९९००० योजन है। अतः जब कि ९९००० योजन पर ९००० योजन की हानि होती है, तब १ योजन पर कितनी हानि होगी ?

---

१. तिलोयपण्णत्ति, पृ० ३७५ से ३७८ तक।

इस प्रकार त्रैराशिक करने पर $\left(\frac{९००० \times १}{९९०००}\right) = \frac{१}{११}$ योजन हानिचय का प्रमाण प्राप्त हुआ।[१] इस सुमेरु पर्वत में नंदनवन और सौमनस वन की कटनी ५०० योजन है वहाँ पर एक साथ ५००-५०० योजन दोनों तरफ घट जाने से ही आगे ११००० योजन तक बिल्कुल समान सीधा गया है। अनन्तर घटना प्रारम्भ हुआ है।

यह पर्वत मूल में (नींव में) १००० योजन पर्यंत वज्रमय, पृथ्वीतल से ऊपर ६१००० योजन तक उत्तम रत्नमय, इससे ऊपर ३८००० योजन पर्यन्त सुवर्णमय है।[२] इसकी चूलिका नीलवर्णमय वैडूर्यमणि की है।

चूलिका पांडुकवन में १२ योजन विस्तृत है, ऊपर ४० योजन की ऊँचाई पर ४ योजन की रह गई है। इसमें हानि का घटने का प्रमाण योजन का पांचवां भाग है।[३] $(१२ — ४) \div ४० = \frac{८}{४०} = \frac{१}{५}$ है।

यहाँ यह समझ में आ जाता है कि जब सुमेरु के घटने में ११ प्रदेश जाने पर १ प्रदेश घटा है जो कि बहुत ही सूक्ष्म है। इसलिए यह पर्वत धागे के डालने के समान बहुत ही चिकनाई से घटा है। यत्र तत्र ऊँचा नीचा कृत्रिम पर्वतों के समान नहीं है।

इसमें जो भद्रशाल, नंदन, सौमनस और पांडुकवन हैं। इन वनों में ही वृक्ष पंक्तियाँ हैं। ये वन भी पृथ्वीकायिक हैं ऐसा लगता है। यथा—

"विविध पादपों से व्याप्त, वनवेदिकाओं से युक्त, नाना मणियों व रत्नों के परिणाम रूप, रत्नमय पीठ से शोभित, मणिमय तोरणों से मण्डित, मनोहर, सुवर्णमय कुसुमों से शोभित, मरकत मणिमय उत्तम पत्तों से व्याप्त, चम्पक व अशोक वृक्षों से गहन, सप्तच्छद व आम्र कल्पवृक्षों के समूह से परिपूर्ण, वैडूर्यमय फलों से समृद्ध और मूंगामय शाखाओं की शोभा से संयुक्त वनखण्ड जानना चाहिए।[४]

इन चारों वनों में ही चारों दिशाओं में एक-एक जिनमन्दिर होने से सोलह जिनमंदिर हैं।

जंबूद्वीप की जगती-परकोटा

जंबूद्वीप को चारों ओर से वेष्टित करके ८ योजन ऊँची जगती है। यह

---

१. त्रिलोकसार गाथा ६१४ की उत्थानिका।

२. तिलोयपण्णत्ति, पृ० ३७९। ३. तिलोयपण्णत्ति, पृ० ३७७।

४. जंबूदीवपण्णत्ति, पृ० ९३।

मूल में १२ योजन विस्तृत है, मध्य में ८ योजन और ऊपर में ४ योजन रह गई है। यह नीचे से क्रमशः घटती हुई है। अर्थात् ८ योजन की ऊँचाई में जहाँ कहीं भी जगती के विस्तार को जानने की इच्छा हो, वहाँ जगती के शिखर से जितना नीचे उतरे हों उतने में एक का भाग देने पर जो प्राप्त हो उसमें चार को मिलाने पर जगती के अभीष्ट विस्तार का प्रमाण होता है। जैसे उपरिम भाग के $१\frac{१}{४}$ योजन नीचे उतर कर यदि वहाँ का विस्तार जानना है तो वह $१\frac{१}{४} \div १ + ४ =$ $५\frac{१}{४}$ इस प्रकार से पांच योजन एक कोश होगा।[1]

इससे बिलकुल स्पष्ट है कि यह परकोटा भी सूत के धागे को डालने से जैसे घटाया जाता है वैसा ही क्रम से घटा है। यत्र तत्र चाहे जैसा नहीं घटा है।

हिमवान् आदि पर्वत

हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी ये छह कुलपर्वत हैं। ये मूल में और ऊपर में समव्यास-विस्तार वाले हैं। इनके पार्श्व भाग मणियों से रचित हैं और ये पूर्व पश्चिम भाग में समुद्र का स्पर्श कर रहे हैं। अर्थात् समुद्र पर्यंत लंबे हैं।[2]

ये पर्वत क्रम से सुवर्ण, चांदी, तपनीय सुवर्ण, वैडूर्यमणि, रजत, और सुवर्ण के समान वर्ण वाले हैं। इनकी ऊँचाई क्रम से १००, २००, ४००, ४००, २०० और १०० योजन प्रमाण है।

इससे स्पष्ट है कि ये हिमवान् आदि पर्वत दोनों पार्श्व भाग में मूल से ऊपर तक समान हैं। अतः दीवाल के सदृश हैं, बिलकुल चिकने हैं और नाना मणियों से चित्र-विचित्र हैं। जैसा कि तत्त्वार्थ सूत्रकार ने कहा है कि 'मणियों से निर्मित विचित्र-रंग विरंगे पार्श्वभाग वाले हैं और ऊपर तथा मूल में समान विस्तृत हैं।'

पुनः इन्हें पर्वत संज्ञा क्यों है ?

इनके ऊपर क्रम से ११, ८, ९, ९, ८ और ११ ऐसे कूट हैं। उनसे ही ये पर्वताकार दिखते हैं। जैसे हिमवान् पर ११ कूट हैं उनकी लंबाई, चौड़ाई, ऊँचाई आदि आकार पर्वत के सदृश है। वैसे ही सभी पर समझना। जैसे—

---

१. जंबूद्वीप पण्णत्ति, पृ. ४।

२. हिमवं महादिहिमवं णिसहो णीलो य रुम्मि सिहरी य।
मूलोवरि समवासा मणिपासा जलणिहि पुट्ठा ।।५६४।।—त्रिलोकसार
मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्तारा।—तत्त्वार्थसूत्र अ० ३
तिलोयपण्णत्ति अ० ४, गाथा ९४, ९५।

"हिमवान् पर्वत पर पूर्व दिशा से लेकर सिद्धकूट, हिमवान् कूट, भरतकूट, इलाकूट, गंगाकूट, श्रीकूट, रोहितास्याकूट, सिन्धुकूट, सुराकूट, हैमवतकूट और वैश्रवणकूट ये ११ कूट हैं। प्रत्येक कूट की ऊँचाई २५ योजन, भूविस्तार २५ योजन और घटते हुए ऊपर में विस्तार १२½ योजन है। ये कूट गोल हैं। इनमें से सिद्धकूट पर जिनभवन है तथा शेष कूटों पर उन उन कूट के नाम वाले व्यंतर देव तथा देवियों के भवन बने हुए हैं।[1]"

ऐसे ही महाहिमवान् के कूटों की ऊँचाई ५० योजन और मूल में चौड़ाई ५० योजन तथा ऊपर में चौड़ाई २५ योजन है। निषध के कूटों की ऊँचाई १०० योजन मूल में विस्तार १०० योजन तथा ऊपर में विस्तार ५० योजन है। अर्थात् प्रत्येक पर्वत की ऊँचाई के चतुर्थभाग प्रमाण उनके कूटों की ऊँचाई है, उतना ही मूल में विस्तार है और उससे आधा ऊपर में विस्तार है। सभी कूट गोल हैं।

इन्हीं कूटों से ही ये छहों पर्वत शिखर वाले पर्वताकार दिखते हैं। ये सभी कूट भी क्रम से ही घटते हैं। क्योंकि इनका मध्य व्यास पौन मात्र हुआ है। यथा २५ योजन ऊँचे कूट का भू व्यास २५ योजन मध्य व्यास १८¾ योजन और ऊपर का व्यास १२½ योजन है।

गजदंत पर्वत

सुमेरुपर्वत की वायव्य दिशा से लेकर क्रम से सौमनस, विद्युत्प्रभ, गंधमादन और माल्यवान नाम के चार गजदंत पर्वत हैं। ये सुमेरु की विदिशा से प्रारंभ होकर दो तो निषध पर्वत तक लंबे हैं, दो मील पर्यंत तक लंबे हैं। इनका विस्तार ५०० योजन का है।

निषध और नील पर्वत के पास इनकी ऊँचाई ४०० योजन है। इसके आगे मेरुपर्वत पर्यंत प्रत्येक के प्रदेशवृद्धि होती गई है। इस प्रकार प्रदेश वृद्धि से बढ़ते-बढ़ते हुए इनकी ऊँचाई मेरुपर्वत के पास में ५०० योजन की हो गई है।[2]

यहाँ प्रदेश वृद्धि से ऊँचाई बढ़ी है। इसलिए इन पर्वतों की यत्र तत्र ऊँची पर्वताकार रचना न होकर बहुत ही व्यवस्थित रचना है। इन पर भी जो कूट हैं वे पर्वत की ऊँचाई के चतुर्थ भाग हैं। यथा—

इन कूटों की ऊँचाई अपने पर्वत को ऊँचाई के चतुर्थ भाग है। इनमें से प्रथम कूट की ऊँचाई १२५ योजन है और अंतिम कूट की ऊँचाई १०० योजन है। शेष

---

१. तिलोयपण्णत्ति, पृ. ३५७।

२. तिलोयप०, पृ. ४०२।

कूटों की ऊँचाई भी गणित से निकाल कर रखी है। अर्थात् नवकूटों की ऊँचाई[1] क्रम से—१२५, १२१ ७/८, ११८ ३/४, ११५ ५/८, ११२ ४/८, १०९ ६/८, १०६ १/४, १०३ १/८, १०० इतने योजन की है।

इस प्रकरण से भी स्पष्ट है कि इन पर्वतों की ऊँचाई प्रदेश वृद्धि से होने से यह पर्वत भी कृत्रिम पर्वतों के सदृश ऊँचे नीचे आदि नहीं है।

वक्षार पर्वत

पूर्व-पश्चिम विदेहों में एक-एक को व्यवहित करके वक्षारगिरि और विभंग नदियाँ स्थित हैं।

सीता नदी के दोनों पार्श्व भागों में चार-चार वक्षार पर्वत और तीन-तीन विभंग नदियों से सीमित आठ-आठ क्षेत्र हैं। इनके नाम क्रम से चित्रकूट, नलिन-कूट, पद्मकूट और एकशैल आदि हैं।

प्रत्येक वक्षार शैलों का विस्तार ५०० योजन है।[2] ये वक्षार सीता नदी के किनारे ५०० योजन ऊँचे हैं और निषध-नील के पास ४०० योजन ऊँचे हैं। ये भी प्रदेशवृद्धि से ही ऊँचाई में वृद्धिगत हुए हैं। प्रत्येक वक्षार पर चार-चार कूट हैं। ये सब कूट अपने पर्वत की ऊँचाई के चतुर्थ भाग प्रमाण ऊँचे हैं। अर्थात् इनमें भी प्रथम सिद्धकूट १२५ योजन ऊँचाई है और अन्तिम कूट १०० योजन ऊँचा है।[3]

आज कुछ विद्वानों का ऐसा कहना रहता है कि सुमेरु पर्वत, हिमवान् आदि पर्वतों में छोटे-छोटे, गोल-गोल पत्थर लगाकर पर्वत के समान दिखाना चाहिये। सीधे मीनार या दीवाल जैसे क्यों बनाये जा रहे हैं उन्हीं के समाधान के लिये ये सब आगम प्रमाण यहाँ उद्धृत किये गये हैं। इन प्रकरणों को पढ़कर विद्वानों को आगम का सही ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

योजन का माप

जो द्रव्य आदि, अंत एवं मध्य से रहित है, एकप्रदेशी है, इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है और जिसका दूसरा विभाग नहीं हो सकता, ऐसे पुद्गल के सब से छोटे हिस्से को अणु या परमाणु कहते हैं। ऐसे—

अनन्तानंत परमाणुओं का	१ उवसन्नासन्न
८ उवसन्नासन्न का	१ सन्नासन्न
८ सन्नासन्न का	१ त्रुटिरेणु

१. तिलोयपण्णत्ति, पृ० ४०६, ४०७। २. तिलोयपण्णत्ति पृ० ४२५।
३. तिलोयपण्णत्ति, पृ० ४३५।

८ त्रुटिरेणु का	१ त्रसरेणु
८ त्रसरेणु का	१ रथरेणु
८ रथरेणु का	उत्तम भोगभूमिज का १ बाल का १ अग्र भाग
उत्तम भोगभूमिज के बाल के ८ अग्रभागों का	मध्यम भोगभूमिज के बाल का १ अग्र भाग
मध्यम भोगभूमिज के बाल के ८ अग्रभागों का	जघन्य भोगभूमिज के बाल का १ अग्रभाग
जघन्य भोगभूमिज के बाल के ८ अग्रभागों का	कर्मभूमिज के बाल का १ अग्रभाग
कर्म भूमिज के बाल के ८ अग्रभागों की—	१ लीख
८ लीख का	१ जूं
८ जूं का	१ जव (पड़ी जव)
८ जव का	१ अंगुल

इसे ही उत्सेधांगुल कहते हैं, इससे ५०० गुणा प्रमाणांगुल होता है।

६ उत्सेधांगुल का	१ पाद
२ पाद का	१ बालिस्त
२ बालिस्त का	१ हाथ
२ हाथ का	१ रिक्कू
२ रिक्कू का	१ धनुष
२००० धनुष का	१ कोस
४ कोस का	१ लघु योजन
५०० लघुयोजन का	१ महायोजन

एक महायोजन में २००० कोस होते हैं।

अंगुल के तीन भेद हैं—उत्सेधांगुल, प्रमाणांगुल और आत्मांगुल।

उत्सेधांगुल—उपर्युक्त बालाग्र, लीख आदि परिभाषा से निर्मित जो अंगुल होता है वह उत्सेधांगुल है।

प्रमाणांगुल—पाँच सौ उत्सेधांगुल प्रमाण एक प्रमाणांगुल होता है। यह अवसर्पिणी काल के प्रथम भरत चक्रवर्ती का एक अंगुल होता है।

आत्मांगुल—जिस-जिस काल में भरत और ऐरावत क्षेत्र में जो-जो मनुष्य हुआ करते हैं, उस-उस काल में उन्हीं मनुष्यों के अंगुल का नाम आत्मांगुल है।

उत्सेधांगुल से देव, मनुष्य, तिर्यंच एवं नारकियों के शरीर की ऊँचाई का

प्रमाण, चारों प्रकार के देवों के निवास स्थान व नगर आदि का प्रमाण जाना जाता है।

द्वीप, समुद्र, कुलाचल, वेदी, नदी, कुण्ड या सरोवर जगती और भरत आदि क्षेत्र इन सबका प्रमाण प्रमाणांगुल से ही हुआ करता है।[१] अर्थात् प्रमाणांगुल से निर्मित बड़े योजन से होता है जो कि २००० कोस का है।

झारी, कलश, दर्पण, वेणु, भेरी, युग, शय्या, शकट (गाड़ी), हल, मूसल, शक्ति, तोमर, सिंहासन, बाण, नालि, अक्ष, चामर, दुंदुभि, पीठ, छत्र, **मनुष्यों के निवास स्थान व नगर और उद्यान** आदिकों की संख्या आत्मांगुल से समझना चाहिये।[२]

विशेष—यहाँ पर २००० धनुष का १ कोस माना है, अतः १ धनुष में ४ हाथ होने से ८००० हाथ का १ कोस हुआ। १ कोस में २ मील मानने से ४००० हाथ का १ मील होता है। एक महायोजन में २००० कोस होते हैं। १ कोस में २ मील मानने से १ महायोजन में ४००० मील हो जाते हैं। अतः ४००० मील के हाथ बनाने के लिये १ मील सम्बन्धी ४००० हाथ से गुणा करने पर ४००० × ४००० = १६०००००० अर्थात् एक महायोजन में १ करोड़, ६० लाख हाथ हुए।

वर्तमान रैखिक माप में १७६० गज का १ मील मानते हैं। यदि १ गज में २ हाथ मानें तो १७६० × २ = ३५२० हाथ का एक मील हुआ। पुनः उपर्युक्त १ महायोजन के हाथ १६०००००० में ३५२० हाथ का भाग देने से १६०००००० ÷ ३५२० = ४५ ४५ $\frac{५}{११}$ मील हुए।

आज कल कुछ लोग ऐसा कह देते हैं कि पता नहीं आचार्यों के समय कोस का प्रमाण क्या था ? और योजन का प्रमाण भी क्या था ?

किन्तु जब परमाणु से लेकर उवसन्नासन्न आदि परिभाषाओं में आगे बढ़ते हुए जघन्य भोगभूमि के बाल के आठ अग्रभागों का एक कर्मभूमि का बालाग्र होता है। तब इससे स्पष्ट है कि कर्मभूमिज के प्रारम्भ का बालाग्र भी भोगभूमिज के बालाग्र से अठगुणा मोटा था। पुनः आज पंचम काल के मनुष्यों का बाल तो उससे भी मोटा ही होगा। आज के अनुसंधान प्रिय विद्वान् यदि आज के बाल की मोटाई के हिसाब से भी आगे के अंगुल, पाद, हाथ आदि बनाकर योजन के प्रमाण को समझेंगे तो भी अनेक शंकायें निर्मूल हो जायेंगी।

१. दीवोदहिसेलाणं वेदीण कुंडजगदीणं।
वस्साणं च पमाणं होदि पमाणंगुलेणेव ॥१११॥—तिलोयपण्णत्ति, पृ० १३।

२. तिलोयपण्णत्ति, पृ० १३।

जम्बूद्वीपपण्णत्ति की प्रस्तावना में अच्छा स्पष्टीकरण है। यथा—

"इस योजन की दूरी आज कल के रैखिक माप में क्या होगी ? यदि हम २ हाथ = १ गज मानते हैं तो स्थूल रूप से १ योजन ८०००००० गज के बराबर अथवा ४५४५.४५ मील (   ) के बराबर प्राप्त होता है।

यदि हम १ कोश को आज कल के मील के समान मान लें, तो १ योजन ४००० मील (   ) के बराबर प्राप्त होता है।

कर्मभूमि के बालाग्र का विस्तार आज कल के सूक्ष्म यंत्रों द्वारा किये गये मापों के अनुसार $\frac{1}{500}$ इंच से लेकर $\frac{1}{200}$ इञ्च तक होता है। यदि हम इस प्रमाण के अनुसार योजन का माप निकालें तो उपर्युक्त प्राप्त प्रमाणों से अत्यधिक भिन्नता प्राप्त होती है। बालाग्र का प्रमाण $\frac{1}{500}$ इंच मानने पर १ योजन ४९६४८.४८ मील प्रमाण आता है। कर्मभूमि का बालाग्र $\frac{1}{300}$ इंच मानने से योजन ७४४७२.७२ मील के बराबर पाया जाता है। बालाग्र को $\frac{1}{200}$ इंच प्रमाण मानने से योजन का प्रमाण और भी बढ़ जाता है। ऐसी स्थिति में हम १ योजन को ४५४५.४५ मील मानना उपयुक्त समझकर इस प्रमाण को आगे उपयोग में लावेंगे।[1]

आजकल जो प्राचीन अयोध्या, हस्तिनापुर आदि के प्रमाण के बारे में आशंकायें होती हैं वे सब इन ग्रन्थ के आधारों को देख कर दूर हो जाती हैं। इसमें मनुष्यों के नगर, आवास, उद्यान आदि का माप प्रमाणांगुल से बतलाया है। अतः भरत चक्रवर्ती के समय अयोध्या का माप उन्हीं के आत्मांगुल से बनाये कोस से किये जाने से बहुत बड़ा था। अन्य चक्रवर्तियों के समय उन्हीं के आत्मांगुल के माप से छोटा होता गया है। पुनः भगवान् महावीर के समय उनकी जन्मभूमि कुण्डपुर का माप भी उन्हीं के आत्मांगुल से लिया जाना चाहिये।

अकृत्रिम द्वीप, समुद्र, पर्वत, क्षेत्र, नदी, सरोवर आदि का माप तो सदा ही प्रमाणांगुल से बढ़े हुए महायोजन से ही माने गये हैं। अतः इस गणित को समझकर महायोजन के बारे में समाधान प्राप्त करके अपने सम्यक्त्व को निर्मल रखते हुए सम्यग्ज्ञान को वृद्धिगत करते रहना ही प्रत्येक मानव का कर्तव्य है।

---

१. जम्बूद्वीपपण्णत्ति प्रस्तावना, पृ० २०।